भारतीय लोक कला मंडल
उदयपुर

रंगायन

वर्ष : ३४

अंक : १–२

जनवरी–जून'२००१

सम्पादक : पीयूष दईया

रंगायन
(भारतीय लोक कला मण्डल का मुखपत्र)
सम्पादक : पीयूष दईया
सहायक निदेशक : श्याम माली

मूल्य :
वार्षिक : ८० रुपये मात्र
यह अंक (संयुक्तांक): ४० रुपये मात्र

विदेश में : एक प्रति : ८ डालर
: ५ पाउण्ड
डाक–खर्च – समुद्र से : ३० रुपये
वायुयान से : ५८ रुपये

आवरण : छाया–चित्र : अनुपम मिश्र

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :
पीयूष दईया
भारतीय लोक कला मण्डल
उदयपुर (राज.) ३१३ ००१
दूरभाष : ५२८३१६

वितरक :
वाणी प्रकाशन
२१ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–2
फ़ोन : ३२७३१६७, ३२७५६१०

प्रकाशक :
रियाज़ तहसीन
मानद सचिव, भारतीय लोक कला मण्डल
उदयपुर ३१३ ००१ (भारत)
दूरभाष : (०२९४) ५२५०७७

चौधरी ऑफसेट प्रा. लि.
११–१२, गुरु रामदास कॉलोनी, उदयपुर (राज.) ३१३ ००१
फोन : ५८४०७१, ४८५७८४

अनुक्रम

राजस्थानी लोकगीतों में गायकी ५

देवीलाल सामर

देवीलाल सामर का लोकतात्त्विक चिन्तन ९

मोहनकृष्ण बोहरा

राजस्थान का लोक संगीत २७

राजस्थानी वाद्य यन्त्र ३२

कोमल कोठारी

जलाशय सम्बन्धी लोकगीत ४३
(सन्दर्भ : गुजराती लोक साहित्य)

डॉ. हसु याज्ञिक

इतिहास–लेखन में लोकसंस्कृति की भूमिका ६१

प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त

पाँच राजस्थानी लोकगीत ७५

भगवतीलाल व्यास

हरसा बीर म्हारा रे ८४

मनोहर शर्मा

कोई अखनकँवारी काठाँ चढ़ रही ९३
(राणा कछवा की कथा)

मदनगोपाल शर्मा

ब्रदीनारायण

भारतीय लोकवार्ता के अंग्रेज अध्येता १०१

डॉ. सुरेश मिश्र

'हो' जाति के लोक गीत १०६

डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद

खाम्तियों का लोक साहित्य 'मुव्-खाम्' ११२

भिक्षु कौण्डिन्य

अकाल : वेदना व आंसू के गीत १२१

रामनारायण उपाध्याय

बैहुला गाय: एक निमाड़ी लोक गीत १२३

दुर्गाशंकर त्रिवेदी

मालवा से कुछ शब्द १२६

चन्द्रशेखर दुबे

नारी पर एकाग्र महागाथा : लछमी जगार १३२

हरिहर वैष्णव

गवरी : एक छाया – लेख

भानु भारती

राजस्थानी लोकगीतों में गायकी!

यह सर्व विदित है कि लोक गीतों को न केवल शब्द रचना, बल्कि स्वर रचना भी किसी प्रयास से नहीं होती, वे अनायास ही हृदय के उद्‌गारों के साथ किसी व्यक्ति के कंठ से उद्‌भासित होकर जन-जन के कंठों की शोभा बन जाते हैं ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता हैं, ये गीत एक से अनेक कंठों पर चढ़ जाते हैं और उनमें शब्दों और स्वरों की दृष्टि से प्रौढ़ता आती जाती है। धीरे-धीरे समय और समाज की कसौटी पर कस कर ये गीत अर्थ-माधुर्य तथा स्वर-रचना की दृष्टि से सर्वगुणसम्पन्न हो जाते हैं, उनकी गायकी में भी आमूल परिवर्तन होने लगते हैं। यह गायकी न तो राग की परिभाषा है, न स्वयं ही कोई राग है। वह तो गाने का ढंग मात्र है, जो समय और समाजगत रूढ़ि के रूप में समाज द्वारा स्वीकृत समझा जाता है। एक ही गीत के गाने की अनेक गायकियाँ हो सकती हैं। ये गायकियाँ विशिष्ठ सामाजिक तथा वैयक्तिक स्थितियों पर आधारित रहती हैं, जैसे यदि कोई गीत किसी अशिक्षित या अपरिचित समाज में घुमा-फिरा है तो उसके गाने का ढंग अत्यन्त सरल और प्राथमिक होगा। यदि वही गीत किसी शिक्षित तथा संस्कृत वर्ग की धरोहर बनता है, तो उसकी गायकी अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत और परिमार्जित होगी। मूल में तो उन गीतों की राग सामान्य राग ही होती है, परन्तु धीरे-धीरे वातावरण तथा अभ्यासी-वर्ग के संसर्ग में उनमें रंगीलापन आने लगता है। यदि ये ही गीत सामुदायिक स्तर से उठ कर किसी व्यक्ति विशेष की रुचि की चीज बन जाते हैं, तो भी उनकी गायकी में आमूल चूल परिवर्तन होने लगता है। ये गीत यदि किसी पेशेवर कलाकार की धरोहर बनते हैं और उन पर आजीविका उपार्जन की जिम्मेदारी भी होती है, तो निश्चय ही उन गीतों में कुछ कमनीयता तथा मुर्कियों की बहार आने लगती है। राजस्थानी गीतों में ऐसे गीतों की संख्या कम नहीं है, जैसे मांड, तीज, गणगौर, जला, जमाई, पणिहारी, पीपली आदि गीत। यदि इन गीतों के लोकसंस्करण हम सुनें या एकत्रित करें तो हमें अनुभव होगा कि इन दोनों शैलियों में जमीन आसमान का अन्तर है। राजस्थान की ढोली, मिरासी, लेंगे, कामड़ आदि पेशेवर गानेवाली जातियों द्वारा गाये जानेवाले व्यवसायिक गीतों में इसी विलक्षण गायकी के दर्शन होते हैं। शादी, विवाह, उत्सव, त्यौहार आदि के गीत, जिन्हें आमतौर से सभी राजस्थानी स्त्रियां उपयुक्त अवसरों पर गाती हैं, जब पेशेवर कलाकारों के कंठों पर जाते है, तो उनकी रंगत ही बदल जाती है।

यहाँ यह भी कहना अनुचित न होगा कि लोक गीतों में उनकी स्वर-रचना से भी अधिक महत्त्व रखने वाली उनकी गायकी ही है। उस गायकी में स्वरों के विशिष्ट लहजे, गाने के विविध खटके तथा शब्दों के उच्चारण की विशेषतायें है। यदि ये

विशेषतायें लुप्त हो जाय तो वे लोक गीतों के दर्जे से हट जाते हैं। ये विशिष्ट लहजे और खटके विशेष अभ्यास से नहीं आते और न सीखने-सिखाने से ही इनका सम्बन्ध है। ये परम्पराओं और संस्कारों से सम्बन्धित हैं। जिस तरह लोकगीत किसी व्यक्ति विशेष की धरोहर नहीं होते, वे रचे नहीं जाते, उन पर किसी रचयिता की छाप अंकित नहीं होती, उसी तरह उनके लहजे और खटके भी किसी व्यक्ति या समाज विशेष की रचना कौशल के परिचायक नहीं है। ये खटके और गायकी के विशेष तरीके समाज के अपने हैं, जो निरन्तर अभ्यास तथा प्रचलन से हमें प्राप्त हुए हैं। उनके पीछे अनेक मस्तिष्कों, अनेक रचयिताओं तथा सामाजिक अनुभवों की पृष्ठभूमि रहती है।

लोकगीतों की गायकी तथा विविधता की दृष्टि से उनकी विशिष्ट प्रक्रिया के दर्शन ऊपर कराये गये हैं, जो भारत के सभी लोकगीतों के साथ लागू होते हैं। राजस्थानी गीतों की अपनी विशिष्ट सामाजिक और भौगोलिक तथा मौसमी परिस्थितियों के कारण उनके मानस पर विशेष प्रकार का असर पड़ता है, यही असर उनके जीवन की अनेक अभिव्यक्तियों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। मिसाल के तौर पर सुदूर मरुभूमि में जहाँ सर्वत्र बालू ही बालू है, जहाँ जीवन के विविध साधन बहुत कम होते हैं, जहाँ मनुष्य को अपनी आजीविका के लिये बहुत अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। वहां राग रंग की मात्रा प्रायः कम रहा करती है, और जो भी थोड़ी बहुत होती है उसमें सभी लोग सराबोर हो जाते हैं, क्योंकि राग रंग के जो भी थोड़े बहुत साधन उपलब्ध होते हैं, उनको पूरी तरह उपयोग में लाने की बुद्धिमानी भी ये लोग बहुत किया करते है ऐसा नहीं करें तो इस शुष्क दुनियां में जीना ही हराम हो जाता है। ऐसे लोकगीत प्रायः रात्रि में जब दिनभर की थकान के बाद लोग एक जगह जमा हो जाते हैं, गाये जाते हैं। सर्वत्र बालू ही बालू और खुला वातावरण होने के कारण उनके गीतों में एक विशेष प्रकार की गूंज होती है... गाते हुए लोग अपनी धुनों की प्रतिध्वनि स्वयं अपने कानों से सुनते है और उसका रस लेते रहते हैं। धीरे-धीरे संस्कार गहरे हो जाने से उनके गीतों की गायकी में भी गूंज का संचार होता है, तथा प्रत्येक स्वर रुक कर उसको लम्बाने के प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। यही कारण हैं कि मरुभूमि में गाये जाने वाले सभी गीत धीमीं चाल में गाये जाते हैं। इसी धीमी चाल के कारण वे अधिक जन-समुदाय के लिये ग्राह्य तथा आनन्ददायक भी बन जाते हैं। यही कारण है कि बीकानेर, जैसलमेर की पणिकारी तब उदयपुर मेवाड़ की पणिहारी में स्वर-रचना का साथ होते हुए भी, उनकी चाल तथा रंगत में जमीन आसमान का अन्तर है। इसी तरह – बीकानेर की तरफ गाई जाने वाली 'पीपली' और उदयपुर मेवाड़ की पीपली की धुनें भी प्रायः एक-सी होते हुए भी दोनों की चालों में बहुत अन्तर है। यही हाल 'ईडोणी' तथा 'गणगौर' आदि गीतों का है।

कोटा, उदयपुर, बून्दी तथा कुछ अंश में जयपुरी लोकगीतों की लयें अपेक्षाकृत द्रूत होती हैं, वे अधिकांश खटके प्रधान है, आलाप और गूंज प्रधान नहीं। गूँज के लिए इन क्षेत्रों की भौगोलिक स्थितियाँ अनुकूल नहीं है, जिस तरह मरुभूमि

की ठंडी रातों में ऊंट पर चलने वाला यात्री अपने गीतों की स्वर लहरियों की गूंज का आनन्द लेता हुआ, अपनी यात्रा को सुगम और सरस बनाता है, वैसी बात इन क्षेत्रों में नहीं होती। स्वयं गाये हुए गीतों की स्वर लहरियाँ दूर तक नहीं फैल पाती। वे शीघ्र ही समाप्त हो जाती है, तथा उनकी रंगत अल्पजीवी होने से वे स्वभाव से ही द्रुत बन जाती हैं। राजस्थानी लोकगीतों की गायकी का यह बहुत ही वैज्ञानिक विश्लेषण है जो लगभग सभी राजस्थानी गीतों को इस विशेषता के अनुसार इन दो श्रेणियों में विभक्त कर देता है।

ये दोनों ही 'स्वरूप अपने-अपने दायरे में अपना विशेष स्थान बनाये हुए हैं। भारतीय लोक कलामंडल के संग्रहालय में ऐसे सैकड़ों गीतों का ध्वनि-संकलन मौजूद है, जिसमें यह वर्गीकरण स्पष्ट है। उदयपुरी शैली के गीत-नृत्यों के एक प्रदर्शन को देखकर एक विद्वान के मन में यही शंका उत्पन्न हुई थी और वे अनायास ही, इसलिए बिगड़ पड़े कि हमने उनके मौलिक रूप को बिगाड़ कर उन्हें विकृत कर डाला है परन्तु उन्होंने कभी इस बात की कोशिश नहीं की कि यह अन्तर क्यों है? हमने यह वर्गीकरण हजारों गीतों के अध्ययन और परीक्षण के बाद ही किया है। इस कथन की पुष्टि के लिये अनेक उदाहरण पेश किये जा सकते हैं, जैसे बीकानेर की ओलूँ और उदयपुर की ओलूँ में शब्द तथा स्वर का साम्य होते हुए भी, उनकी गायकी में जमीन आसमान का अन्तर है। यह अन्तर स्वर-लिपियों द्वारा नहीं दर्शाया जा सकता। वह तो श्रवण तथा अध्ययन से ही सम्बन्ध रखता है।

राजस्थानी गीतों की गायकी में, जो ऊपर विभिन्नतायें दर्शायी गई हैं, जिनका विवेचन करना भी नितान्त आवश्यक है, एक मोटा अन्तर तो यह है कि यही गीत जब किसी सधे हुए शास्त्रीय कलाकार द्वारा गाये जाते हैं, तो उनकी मूल स्वर-रचना वही रहते हुए भी, उनकी गायकी में विलक्षण परिवर्तन हो जाता है। शास्त्रीय गायक लोकगीतों की प्रत्येक पंक्ति में एक विशेष कंपन और मुर्कियों का प्रयोग करके उसे आकर्षक और चमत्कृत करने की चेष्टा करता है।

निश्चय ही इस तरह गाये हुए गीत अधिक मंजे हुए और आकर्षक लगते हैं, शास्त्रीय संगीत पद्धति की लोच अवश्य आ जाती है, परन्तु लोक-गीतों की गायकी की आत्मा से वे दूर हो जाते हैं, जब इस गायकी का विवेचन किया जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि उनके शब्दों के उच्चारण के भेद से गायकी में अन्तर आ जाता है। जैसे मारवाड़ तथा बीकानेर की तरफ की राजस्थानी भाषा के शब्द उच्चारण में ओंकार बहुला हो जाते हैं, और शब्दों के उच्चारण के साथ ही स्वरों की गायकी भी ओंकार बहुला हो जाती है।

इन्हीं कारणों से राजस्थानी गीत अपनी गायकी के अनुसार निम्नलिखित वर्गों में विभक्त हो गये हैं :-

(१) वे लोक गीत जो विशुद्ध ग्रामीण वातावरण में गाये जाते हैं, और जो केवल स्वांत: सुखाय होते हैं, ये गीत सामुदायिक होते हैं और विवाह, समारोह,

उत्सव, पर्वों आदि पर विशेष रूप से गाये जाते हैं।

(२) वे गीत जो व्यवसायिक तथा पेशेवर जातियों द्वारा अपनी आजीविका-उपार्जन हेतु गाये जाते हैं और जिनमें गायन-वादन की विशिष्ट परम्परायें होती हैं और जो पुश्त दर पुश्त अपने कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त होते हैं।

(३) वे गीत, जो शहरी वातावरण में शहरी लोगों द्वारा शौकिया ढंग से गाये जाते हैं।

(४) वे गीत, जो सधे हुए शास्त्रीय कलाकारों द्वारा गाये जाते हैं, और जिन्हें वे अपनी विशिष्ट रंगत देते हैं।

इन उक्त शैलियों में सर्वाधिक प्रयुक्त होनेवाली शैली पेशेवर जातियों द्वारा गाई जाने वाली लोकगीतों की है। इस श्रेणी के गीतों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। वे सर्वाधिक लोकप्रिय हैं, और उनका चलन केवल गानेवालों तक ही सीमित है। श्रोताओं की अभिरुचि को आकर्षित करने की उनमें ताकत है, अथवा यों कहिये कि उनमें प्रदर्शनात्मक गुण कूट-कूट कर भरे है। प्रदर्शनात्मक गुण उन्हीं गीतों में होते हैं, जिनमें स्वरों तथा शब्दों के वैविध्य के साथ कलात्मक चमत्कार हो। चमत्कार और माधुर्य की दृष्टि से व्यवसायिक जातियों द्वारा गाये हुए लोकगीत ही सर्वाधिक मधुर और आकर्षक हैं। ये ही गीत लगभग सभी प्रदर्शनों तथा सार्वजनिक आयोजनों की शोभा बढ़ाते हैं। व्यवसायिक होने के नाते उनमें चमत्कारिक गुण हैं और श्रोताओं को रिझाने की विलक्षण शक्ति है।

मोहन कृष्ण बोहरा

देवीलाल सामर का लोकतात्त्विक-चिन्तन

देवीलाल सामर हिन्दी में लोकतात्त्विक आलोचना के प्रथम प्रणेता हैं। लोक-साहित्य और कलाओं का अध्ययन तो हिन्दी जगत में आपसे पहले ही प्रारम्भ हो गया था लेकिन जो विद्वान इस ओर उन्मुख हुए वे मुख्यत: साहित्यिक क्षेत्र के व्यक्ति थे और क्योंकि वे अभिजात से लोक की ओर आये थे इसलिये लोक-साहित्य का विवेचन भी उन्होंने साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से ही किया; लोक-सम्पदा के निजत्व की ओर उनका ध्यान नहीं गया। आगे चलकर, जिन्होंने लोक-कलाओं की लोक-तात्त्विक पहचान अनुष्ठित करने का उद्योग किया, उनमें देवीलाल सामर का नाम सर्वोपरि महत्त्व का है। आप लोक-जीवन में गहरे रमे हुए और लोककलाओं के साक्षात् अनुभव वाले व्यक्ति थे और कुछ क्षेत्रों के प्रयोक्ता भी। लोककलाओं का आपका निरीक्षण भी बहुत सूक्ष्म था। लोक-आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए आपने इन कलाओं के समधर्मी शास्त्रीय अनुशासनों को भी भली प्रकार से साध लिया था। यह शास्त्रीयता सदैव आपके विवेचन-विश्लेषण के पृष्ठभूत रही है इसलिए लोक का शास्त्र से अंतर ही नहीं, शास्त्र के संदर्भ में लोक का वैशिष्ट्य भी वे गहराई में जाकर उद्‌घाटित कर सके हैं और उसके निजत्व की पूरी प्रतीति भी हमें दे सके हैं। आपने विभिन्न प्रदेशों और विदेशों का भी व्यापक भ्रमण कर वहाँ की लोककलाओं का भी गहरा अनुशीलन किया था, इसकी छाप आपके विवेचन में पग-पग पर अंकित हुई मिलती है। किसी एक प्रदेश की कला की किसी विशेषता पर विचार करते हुए जब आपका ध्यान अन्य प्रदेशों की ओर जाता है तो तुलना के लिये वैविध्य की एक पूरी श्रृंखला उन्हें सहज ही सुलभ हो जाती है। इतनी ही तीक्ष्ण आपकी श्रवण-संवेदना है और इतनी ही पैनी विश्लेषणशक्ति कि आपका विवेचन नेत्रोन्मीलक हो जाता है। इन कलाओं का जो आनन्द हम अनुभव करते हैं लेकिन जिनकी जटिलता में पैठना हमारे लिये संभव नहीं होता, आप उसे अत्यन्त सहज और सुलझे हुए ढंग से विश्लेषित करते चलते हैं; यथासाध्य वे अपने विश्लेषण को तकनीकी शब्दावली से मुक्त भी रखते हैं यद्यपि जहाँ शास्त्र से तुलना अभीष्ट होती है, वे तकनीकी शब्दावली का प्रयोग भी अधिकारपूर्वक करते हैं। आप लोककला की सीमाओं को भी पहचानते हैं; आपके विवेचन में हमें वस्तुनिष्ठता भी मिलती है इसलिये लोककलाओं के प्रति अनुराग होते हुए भी आप कहीं गलित भावुकता के शिकार नहीं होते। आपका विवेचन जो प्रामाणिक जान पड़ता है, उसका रहस्य यही है। अपनी पुस्तक **'लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ'** में सामरजी ने लोकसंगीत, लोकनृत्य और लोकनाट्य का विस्तृत विवेचन करते हुए इन कलाओं का लगभग शास्त्र ही रच दिया है।

लोकगीत-चिन्तन

लोकगीत के विषय में प्रचलित मान्यता यह है कि यह गीत समाज की धरोहर होता है, यह वैयक्तिक गीत नही होता। यह लेखक-विशेष के नाम और उसके व्यक्तित्व की छाप से मुक्त होता है। श्री देवीलाल सामर की मान्यता भी यही है लेकिन उसका प्रतिपादन उन्होंने लोकगीत के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया को दृष्टिपथ में रखते हुए किया है। सामान्यतौर पर तो वे यही कहते हैं कि 'यदि लोकगीत किसी एक रचनाकार की कृति के रूप में मान्यता प्राप्त है तो निश्चय ही उसे लोकगीत की गलत पदवी मिली हुई है।' लेकिन साथ ही उन्होंने इस वास्तविकता को पहचाना है कि 'गीत का प्रथम स्वर किसी व्यक्ति-विशेष के कंठ से ही फूटता है।' उन्होंने निर्द्वंद्व लिखा भी है कि 'गीत की उद्‌भावना व्यक्ति से होती है, समष्टि से नहीं।' 'लोकगीत एक व्यक्ति की प्रतिभा की उपज है जो बाद में अनेक सामाजिक प्रतिभाओं के संमिश्रण से लोकगीत का दर्जा प्राप्त करता है।' ये गीत प्राय: गाये भी समूह में ही जाते हैं यद्यपि एकाकी व्यक्ति भी इन्हें गाता है; कदाचित् इसे दृष्टिगत रखते हुए ही उन्होंने लिखा है कि 'अनेक कंठों पर चढ़कर लोकगीत अपना पुष्ट स्वरूप प्राप्त करते हैं परन्तु व्यवहार में पुन: वैयक्तिक कंठ पर आ जाते हैं।' लेकिन वैयक्तिकता की यह स्वीकृति व्यक्ति के नाम की या उसके व्यक्तित्व की छाप की स्वीकृति क़तई नहीं है और न ही यह गीत के सामाजिक धरोहर होने का निषेध ही है। यह तो इस धारणा का निराकरण है कि कोई समूह बैठकर गीत रच देता है। लोक-नृत्य और लोक-नाट्य की सर्जना की बात करते हुए सामरजी उनमें समूह की भागीदारी रेखांकित करते हैं लेकिन इसके विपरीत गीत-रचना के संदर्भ में वे उसके सर्जनभूत व्यक्ति पर ही बल देते हैं। वे निर्भ्रान्त कहते हैं कि गीत रचा किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा ही जाता है लेकिन कालक्रम में जब उस गीत का स्वर-संघटन और शब्द-संयोजन जनमानस की जिह्वा पर चढ़ जाता है तब वह व्यापक प्रसार पाने लगता है। इसी अवस्था में जब किन्हीं गायकों द्वारा उसमें हस्तक्षेप होने लगता है, तब उसके गति, लहजे और बोलों तक में कुछ बदलाव आने लगता है। यह प्रक्रिया चलती रहती है और इसी राह से विकास पाते-पाते एक वैयक्तिक गीत लोकगीत बन जाता है। जो गीत धार्मिक-आनुष्ठानिक क्रियाओं से या सामाजिक-प्रयोजनों से गहरे जुड़ जाते हैं या विरह-मिलन की गहरी मार्मिक अनुभूतियों को वाणी देकर जन-जन के कंठ में बस जाते है, वे समाज की धरोहर बन जाते हैं। आने वाली पीढ़ी उन्हें बिना किसी अभ्यास के, पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त करती जाती है। इस प्रक्रिया में कोई डेढ़-दो सौ वर्ष लग जाते हैं। इस अंतराल के सबब से और परिवर्तन-परिवर्द्धन के सबब से भी, किसी स्तर पर रचयिता का नाम विलोपित हो जाता है। जब तक रचयिता का नाम ज्ञात रहता है, वह गीत लोकगीत नहीं बन पाता। मीरां के पद घर-घर में गाये जाते हैं लेकिन फिर भी वे लोकगीत नहीं हैं। यह स्थिति दर्शाती है कि लोकग्राह्यता या लोकप्रियता ही किसी गीत के लोकगीत होने की कसौटी नहीं है। एक कसौटी यह (लोकप्रियता) भी है लेकिन इसके

साथ गीत के सांस्कारिक और सामाजिक जुड़ाव की शर्त का महत्त्व भी कम नहीं है बल्कि कहीं अधिक है। परन्तु इन सब बातों के रहते भी किस प्रक्रिया से और कौनसा वैयक्तिक गीत लोकगीत का दर्जा प्राप्त करेगा, इस विषय में पहले से निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह एक अज्ञात प्रक्रिया है। समय ही इसका निर्णायक होता है।

यहाँ देखने की बात यह नहीं है कि अन्ततः सामरजी का निष्कर्ष भी यही रहा है कि लोकगीत वैयक्तिक रचना नहीं है, सामाजिक विरासत है; देखने की बात यह है कि किस राह से होकर वे इस निष्कर्ष तक आये हैं। निष्कर्ष वही होने पर भी सामरजी का महत्त्व उस कारण से बढ़ता है जिसकी तलाश में वे लोक-रचना के उत्स तक जाते हैं और वहाँ से उसकी विकास-यात्रा को टोहते हुए इस निष्कर्ष पर आते हैं।

सामरजी की विशेषता यह भी है कि वे लोककलाओं के अपने स्वरूप और निजत्व की पहचान भी हमें देते हैं। साहित्य के विद्वानों और आलोचकों ने लोकगीतों का जो विवेचन किया है, उसमें उन्होंने इन गीतों को साहित्यिकता के कोण से देखा है इसलिये उनमें जो काव्यात्मकता मिलती है, याने भावों की जो गहराई और मार्मिकता मिलती है और सामाजिक जीवन का जो चित्रण मिलता है, वही उनमें उदाहृत हैं। इसकी चिंता उन्होंने नहीं की है कि जिन गीतों में शब्दों का संयोजन प्रभावी नहीं होता है, उन गीतों की प्रभाव-शक्ति का रहस्य क्या है? कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे गीतों की संख्या भी कम नहीं है बल्कि बहुतायत तो उन्हीं की है जिनमें शब्द की भूमिका नगण्य होती है। 'मणिपुर, त्रिपुरा तथा मध्यप्रदेश की आदिम-जातियों के अनेक गीत ऐसे हैं जिनमें शब्द हैं ही नहीं, उनकी लय-प्रधान गूँज ही उनका कलेवर है।' प्रश्न यह है कि ऐसे गीतों के महत्त्व का आकलन हम किस तरह से करेंगे? सामरजी ने इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया है और गहरे जाते हुए लोकगीतों की तात्त्विक प्रकृति का तलस्पर्शी उद्घाटन किया है।

यहाँ प्रारंभ से ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि सामरजी ने लोकगीत के लिये 'लोकसंगीत' अभिधान का प्रयोग किया है, इसका विशेष कारण है। वैसे तो, लोकगीत स्वयं में व्यापक अभिधान है, गीत का संगीत-पक्ष उसमें भी अन्तर्निहित है लेकिन सामरजी ने सांगीतिक-पक्ष पर बल देने के लिए 'लोकसंगीत' अभिधान अधिक उपयुक्त पाया है, बल कदाचित् इसलिए कि उनके पूर्व की लोक-आलोचना में लोकगीत का सांगीतिक-सौंदर्य लगभग अनचीह्ना और निश्चित रूप से अनालोचित था। उन्होंने शास्त्रीय-संगीत के बरक्स लोकगीत की संगीतात्मक विशेषताओं को उभारा है इसलिए 'शास्त्रीय-संगीत' अभिधान के वज़न पर ही 'लोक-संगीत' अभिधान का प्रयोग किया है। लेकिन ज्ञातव्य है कि लोकगीतों का संगीतेतर पहलू भी उनके दृष्टिपथ से कहीं ओझल नहीं हुआ है। इन गीतों का स्वर-लालित्य दिखाने के साथ-साथ वे जो इनके शब्द-पक्ष पर भी बराबर बल देते हैं और सामाजिक-सांस्कारिक पक्ष का भी बार-बार स्मरण कराते हैं, उससे

यह बात भलीभाँति ज्ञापित होती है। शास्त्रीय-संगीत की शैलियों के निर्धारण में गीतों का अर्थ तथा शब्द-कलेवर साधारणतया कोई अर्थ नहीं रखता जबकि इसके विपरीत लोकगीत की विभिन्न शैलियों में इन तत्त्वों की सक्रिय भूमिका रहती है। इन शैलियों के विश्लेषण में प्रवृत्त होते हुए सामरजी ने यह बात अकुंठित भाव से उजागर की है कि इनमें गेय-तत्व गीत के शब्द-कलेवर पर भी उतना ही निर्भर करता है, जितना स्वर-लालित्य पर; वहाँ ताल-पक्ष और लय की बंदिशें भी गीत की प्रकृति के अनुसार होती हैं। कुछ शैलियाँ (लोकगीत की) ऐसी भी हैं जिनमें गेय-तत्व है ही नहीं या गौण है, जैसे इतिवृत्तात्मक गीत में। इसमें न तो गेय-पक्ष होता है, न काव्य-पक्ष। नाट्यगीत के भी कुछ रूपों में गेय-तत्व का स्थान कथोपकथन ले लेता है। सामरजी ने इन गेय-तत्व-विरल शैलियों के स्वरूप और वैशिष्ट्य का विवेचन भी उतने ही मनोयोग से किया है, संगीत-पक्ष की दुर्बलता देखकर इनका तिरस्कार नहीं किया है। लोक-भजन के विवेचन में उन्होंने उसकी संगीतात्मकता पर जितना विचार किया है, उससे अधिक उसके विषय-वस्तु पक्ष का विवेचन किया है। इस प्रकार, 'लोक-संगीत' अभिधान के बावजूद वे अपने विवेचन को संगीत तक सीमित नहीं करते, उसमें इतर तत्वों का अंतर्भाव किये भी चलते हैं। अवश्य ही, संगीत को उन्होंने प्रमुखता दी है, इस अर्थ में कि उसका अब तक अनचीह्ना रहा पक्ष उन्होंने अन्वेषित किया है, अन्यथा व्यवहार उन्होंने 'लोकगीत' अभिधान का भी अकुंठित भाव से किया है। इस संदर्भ के रहते सामरजी के संगीत पर आग्रह को हम सही परिप्रेक्ष्य में पा सकते हैं। अस्तु!

लोकगीतों की संरचना का विश्लेषण करते हुए सामरजी कहते हैं कि – लोकगीत की आत्मा स्वर में बसती है। अवश्य ही, इनमें स्वर और शब्द की संगति भी निर्वहित हुई मिलती है लेकिन प्रधानता इनमें स्वर की ही रहती है। स्वरों की एक संगति शब्द के साथ होती है, तो दूसरी भाव के साथ होती है और कुछ गीतों में तो एक अन्य संगति उस क्रिया-व्यापार की लय के साथ भी होती है, गीत जिससे जुड़ा होता है। इन बातों को समझे बिना हम लोकगीत की संरचना को नहीं पा सकते। इन गीतों को हम जो लोक-काव्य नहीं कहते, लोकगीत कहते हैं , उसका कारण भी यही है कि ये कविता होने की दृष्टि से नहीं रचे जाते; ये गाये जाने के लिए ही रचे जाते हैं। फिर, इनका गेय-तत्त्व भी साहित्यिक गीतों के गेय गुणों से भिन्न होता है। इनमें विशेष ध्यान इस बात पर रहता है कि गीत की लयात्मकता उस क्रिया को कुछ आनन्दप्रद बना दे, गीत जिससे जुड़ा है। चक्की चलाते समय गाये जाने वाले गीत या पत्थर कूटते वक्त गाये जाने वाले गीत और इसी तरह के अन्य असंख्य गीत बनाये ही इस दृष्टि से गये हैं कि उनमें स्वर और कार्य-सम्पादन में या उस हेतु से होने वाले अंग-संचालन में एक सहज संगति बनी रहे। एक जैनुइन कविता या साहित्यिक गीत इस प्रकार की किसी भी हेतुकता से मुक्त होता है। इस तरह, लोकगीतों का प्रधान गुण इनकी उस गेयता में है जो इन्हें उस कार्य-व्यापार से बाँधे रखती है और जिनके ये वाचक हो जाते

से ऐसे मधुर गीतों का उदय होता है जो उस चक्की की ध्वनि के साथ मेल खाते हैं। इसी तरह, पनघट पर जाती हुई स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, उसकी लय कुछ तेज और स्वर चयन भी कुछ चुलबुला होता है।

हम लक्ष्य कर सकते हैं कि सामरजी केवल गीत-प्रकार नहीं गिनाते, वे उस गीत-प्रकार की बुनावट को भी उधेड़ते हैं और हमें उसके अंतर में झांकने का अवसर भी देते हैं और दिखाते हैं कि कैसे वहाँ क्रिया-व्यापार व स्वर-चयन में गहरी सम्पृक्ति है। वे हमें दिखाते हैं कि कैसे सड़क कूटने के गीत द्रुतगति के होते हैं इसलिये उनका स्वर-चयन संक्षिप्त और स्वर-संचार-सीमा छोटी होती है; लोरियों की बंदिशें अत्यन्त कोमल और कमनीय होती हैं, आदि-आदि। इस प्रकार, विभिन्न गीत-प्रकारों में, शब्द की कम या ज्यादा भूमिका के अनुरूप ही उसे महत्त्व दिया गया है। इसे समझ लेने के बाद उनमें विरोधाभास की जो शंका उठती है, उसका समाधान हो जाता है।

प्रस्तुत संदर्भ में सामरजी का यह पर्यवेक्षण भी मुझे सही जान पड़ता है कि इन गीतों की स्वर-रचना में ही कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान रहते हैं जो क्रियाओं के निष्पादन में सहायक होते हैं। दूसरे, यह कि ये क्रियाएं संगीत के साथ जुड़ी हुई हैं, न कि क्रियाओं को संगीत प्रदान किया गया है। यदि ऐसा होता तो यत्किंचित् शब्द-विधान में ही क्रिया-व्यापार सूचित होता। लेकिन जिन गीत-प्रकारों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें चक्की चलाने या पत्थर कूटने की क्रिया वर्णित नहीं है। स्पष्ट है कि ये क्रियाएँ संगीत के सहारे ही निष्पन्न होती चलती हैं, इन्हें शब्दों की अपेक्षा नहीं होती।

सामरजी ने लोकगीतों का जो विश्लेषण किया है, उसका एक प्रबल और महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने इस मिथ को तोड़ा है कि लोक-संगीत शास्त्रीय-संगीत की तुलना में घटिया कला या दोयम दरज़े की रचना है। उन्होंने लोकगीतों के विश्लेषण में प्रवृत्त होने से पूर्व शास्त्रीय संगीत का अनुशासन साधा है इसलिये वे लोकगीतों का सांगीतिक विधान करके यह दिखा सके हैं कि कैसे संगीत के सभी प्रमुख तत्त्व जो शास्त्रीय-संगीत में मिले हैं, लोकसंगीत में भी मिल जाते हैं यद्यपि उनका संघटन वहाँ शास्त्रीयता के अनुकरण में हुआ नहीं होता। उनका कहना यह है कि लोकगीतों में जो काव्यात्मकता मिलती है, वह किसी साहित्यशास्त्र के अनुशीलन से आई हुई नहीं होती लेकिन साहित्यिालोचकों ने इन गीतों को साहित्यिक-दृष्टि से देखा है और उसमें काव्यात्मकता का निदर्शन किया है। इसी तरह, इन गीतों में संगीत का भी समूचा शास्त्र मौजूद है परन्तु दुर्भाग्य से शास्त्रीय संगीतकारों ने इनका महत्त्व पहचाना नहीं है। सामरजी ने शास्त्रीय रागों की दृष्टि से इन गीतों का स्वर-विधान करके दिखाया है कि कैसे लालर गीत में राग गौड़ सारंग की छाया, बधावा गीत में तिलक कामोद, सियाला

गीत में राग रागेश्वरी और राग बिलावल की छाया मिलती है यद्यपि यह निर्वाह वहाँ शास्त्रीय कठोरता लिये हुए नहीं है। कहीं-कहीं इनमें शुद्ध और कोमल स्वरों का, तो कहीं रागों का भी मिश्रण हुआ मिल जाता है लेकिन देखने की बात यह है कि यह मिश्रण इन गीतों में अद्‌भुत सौन्दर्य की सृष्टि करता है, कोई विकार नहीं लाता। बन्ना गीत में राग रागेश्वरी में भिन्न षड़ज का मिश्रण हुआ है और शुद्ध धैवत के साथ कोमल धैवत का भी प्रयोग हुआ है लेकिन इससे भी गीत के प्रभाव में कोई क्षति नहीं, प्रत्युत वृद्धि ही हुई है। ऐसे अनेकानेक शास्त्र-विरुद्ध प्रयोग हमें लोक संगीत में मिल जाते हैं लेकिन वे गीतों के सौन्दर्य में कोई विकार नहीं लाते, उसका प्रभाव ही बढ़ाते हैं। यही लोक-संगीत की विशेषता है। यहाँ कभी-कभी तो ऐसी रागें गले मिलती हैं जिनकी शास्त्रीय संगीतकार स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते। शास्त्रीय संगीत में तो ऐसी मिलावट विकार उत्पन्न करने वाली ही मानी जायेगी जबकि यही मिश्रण इन लोकगीतों में सुखद मनोवैज्ञानिक भावस्थितियाँ उत्पन्न करता है। वस्तुत: गायक जब गायन में प्रवृत्त होता है, तब उसकी भाव तरंगें किसी भी बंधे हुए विधान को नहीं मानतीं, वे उसमें हस्तक्षेप करती हुई कुछ नई सृष्टि कर जाती हैं, उसी से मिश्रित रागों का जन्म होता है। सामरजी का तो मत है कि शास्त्रीय संगीत में भी रागों का जो मिश्रण मिलता है, वह लोक संगीत की देन ही है।

यहाँ यह स्पष्ट रहना चाहिये कि लोक-संगीत में शास्त्रीय रागों का जो निर्वाह हुआ मिलता है, वह किसी शास्त्रीय नियम के तहत नहीं मिलता। लोकगायकों को शास्त्र का कोई ज्ञान नहीं होता, अत: वह निर्वाह चेष्टित नहीं, सहज ही होता है और यही दर्शाता है कि राग की सृष्टि अपने मूल में मानव की रागात्मक और भावात्मक वृत्ति का सहज स्वरात्मक रूपायन है। शास्त्र तो उस सहज की नियमबद्धता का नाम है।

लोकगीतों के स्वर-पक्ष की तरह ही उनके ध्वनि-पक्ष पर भी सामरजी ने विचार किया है। उनकी मान्यता है कि इन गीतों का ध्वनि-पक्ष अत्यन्त समृद्ध है और अत्यन्त जटिल भी। इसका विश्लेषण भी अत्यन्त कठिन है यद्यपि सामरजी ने अपनी तीक्ष्ण श्रवण-संवेदना और सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति के संयोग से उस समृद्धि की और विभिन्न प्रादेशिक गीतों के विश्लेषण से उसके अनुपम वैविध्य की प्रतीति हमें दी है। उनका कहना है कि गीत का प्रभाव गायकी की विशेषता से आता है जो गायक के गले में निहित रहती है, गीत की स्वर-रचना में नहीं इसलिये एक लोकगायक ही उसे व्यक्त कर सकता है, अन्य कोई गायक नहीं। उन्होंने दृढ़तापूर्वक लिखा है कि -

> लोकगीत वास्तव में लोकगायक के गले पर ही फबता है, अन्य गायक चाहे कितनी ही चतुराई से उसकी वास्तविक धुन ही में क्यों न गाये, यह बात उसमें पैदा हो ही नहीं सकती। यह विशेषता लोकगीत गायकों को अभ्यास से प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि जब लोकगीत किसी लोकपक्षविहीन कंठ पर उतरता है तो उसकी ध्वनिगत विशेषता समाप्त

> हो जाती है। यह विशेषता गीत की राग, तान, आलाप तथा स्वरों के तोड़-मरोड़ में निहित नहीं रहती। गायक के कंठ में कितना ही मिठास या लालित्य क्यों न हो, वह संगीत विद्या में कितना ही पारंगत क्यों न हो, वह इस खूबी को प्रकट कर ही नहीं सकता।

यह समझने और स्वीकारने में कुछ कठिनाई तो होती है कि कोई जिज्ञासु गायक सतत् अभ्यास से भी लोकगीत की गायकी को नहीं अपना सकता, लेकिन सामरजी अपना मत बलपूर्वक प्रतिपादित करते हैं।

सामरजी ने इन गीतों की ध्वनिगत विलक्षणताओं को चीह्न कर और सूक्ष्म निरीक्षण और समानताओं में भेद को ताड़ लेने वाली तीक्ष्ण दृष्टि के सहारे विभिन्न प्रदेशों के लोकगीतों की क्षेत्रीय विशेषताओं को भी रेखांकित किया है। उदाहरण के लिये उनके विवेचन का यह अंश द्रष्टव्य है :-

> बंगाल के गीतों में गायक प्रत्येक गीत को गाते समय हृदयस्पर्शी स्वर स्पन्दन-तत्त्व को प्रधानता देता है जिससे गीत भावोद्रेक की दृष्टि से प्रत्येक श्रोता को मर्माहत कर देता है। वही गीत उसी धुन में कोई अबंगाली व्यक्ति गावे तो उसकी अदायगी में वह भावप्रवणता का अभाव खटकने वाला होगा। इसी तरह पंजाबी गीतों की गायकी में स्वरों को सशक्त बनाकर तथा उन्हें झटका देकर गाने की प्रधानता रहती है- दक्षिण भारत, आंध्र, तंजोर तथा कर्नाटक के गीत गायकों में स्वर को विचित्र प्रकार से मोड़ देकर गाने की प्रणाली है जिससे स्वर के साथ ही मुरकियाँ झटके से ली जाती हैं, उनमें स्वर के तनिक विकृत पक्ष को छूने की प्रवृत्ति रहती है। लोकगीत गायकी की अदायगी संबंधी ये विशिष्ट तत्त्व ही उन्हें क्षेत्रीय विशेषताओं में बाँधते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि गायकी के वैशिष्ट्य के सहारे ही सामरजी ने विभिन्न प्रदेशों के लोकगीतों की पृथक पहचान अनुष्ठित की है। इन गीतों का स्वरोच्चार पक्ष इन्हें अतिरिक्त माधुर्य प्रदान करता है और जटिल भी बनाता है। सामरजी कहते हैं कि उच्चार पक्ष के इन शैलीगत तत्त्वों को विश्व की किसी वैज्ञानिक स्वर-लिपि में नहीं लिखा जा सकता, न इनका कोई बौद्धिक विवेचन-विश्लेषण ही हो सकता है। लेकिन ऊपर के उद्धरण में हम यह भलीभाँति देख सकते हैं कि कैसे स्वयं सामरजी ने असंभव से लगने वाले कार्य को भी शब्दों की सीमा में लाने का एक हद तक सफल उद्योग किया है। राजस्थान की व्यावसायिक जातियों के गायन की जो पहचान उन्होंने दी है, वह भी यहाँ द्रष्टव्य है-

> राजस्थान की ढोली तथा मिरासी जातियों को ही लीजिये। उनकी स्त्रियाँ लोकगीत गाने में प्रवीण समझी जाती हैं। इनकी एक विशिष्ट आवाज़ होती है, जो लाखों में पहचानी जा सकती है। बंगाली गायकों की तरह इनमें स्वर कम्पन तथा भाव-प्रवणता लेशमात्र भी नहीं होती। वे सीधे तथा सशक्त तरीके से स्वरों में मिठास भरती हुई गाती चलती हैं। गीतों के भावार्थ से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। वे गीत की स्वर रचना

का आनन्द लेती हुई उसके सौन्दर्य को निखारती हैं।

किसी भी गीत के ध्वन्यात्मक सौंदर्य को ध्वनि-संकलन यंत्र के सहारे संकलित तो किया जा सकता है लेकिन उसका विवेचन तो आत्मनिष्ठ ही हो सकता है, यह सीमा निश्चय ही सामरजी के विवेचन की है लेकिन तब भी यह देख लेना कठिन नहीं है कि ध्वनियों के तुलनात्मक अनुशीलन की और उनके निजत्व को पकड़ने की अद्भुत सामर्थ्य सामरजी में है। एक जगह तो वे यह बात भी बड़ी खूबी से दिखाते हैं कि कैसे लोकगायक का स्वरतंत्र अपनी आवाज को उस वाद्य-यंत्र के साथ अनुकूलित करता है, जिस पर वह गाता है, जैसे -

> तंतुवाद्यों पर गाने वाले घुमक्कड़ गायकों में भी ध्वनिगत एक ऐसी विशेषता रहती है(कि)- वे अपनी आवाजों को वाद्यों से स्फुरित होने वाली झंकार के अनुरूप ही बना लेते हैं जैसे-सारंगी, कमाचा तथा रावणहत्था पर गाने वाला अपने गीत को अजाने ही इस तरह घिसता है कि उसकी स्वयं की आवाज भी तारों की तरह ही घिसने लगती है। तालवाद्य के साथ गाने वाले गायक की आवाज़ वाद्य की तरह ही ठुमक-ठुमक करती रहती है। उसमें एक विचित्र-सी गूंज गूंजती रहती है- गजवाद्यों के साथ गाने वाले गायक की आवाज़ लम्बी-लम्बी खिंचती है। उसमें तारों की सी झंकार निकलती रहती है।

इस प्रकार, सामरजी का मत यह है कि यह ध्वनि-तत्त्व ही लोकगीतों को उनका विशिष्ट स्वभाव देता है और इस वैशिष्ट्य के कारण ही उन्हें अमरत्व प्राप्त होता है।

स्वर और ध्वनि पक्ष की तरह ही सामरजी ने ताल-पक्ष का विवेचन भी किया है। लोकगायक क्योंकि संगीतशास्त्र से अनभिज्ञ होता है इसलिए वह रागों की तरह ही ताल से भी परिचित नहीं होता। ताल वस्तुतः संगीत का बाह्य पक्ष है, आत्मा उसकी लय है, इसलिये एक बार तो सामरजी ने लिख भी दिया है कि 'लोक संगीत में ताल शब्द का प्रयोग ही गलत है, उसमें सब कुछ लय ही है, ताल जैसी कोई चीज ही नहीं हैं', लेकिन इसके उपरान्त भी अपने पर्यवेक्षण से उन्होंने लोकगीतों में तालों का निर्वाह हुआ भी पाया है यद्यपि सहज ही, चेष्टित नहीं। साधारणतया ये तालें 7,8,9 या 10 मात्रा में होती हैं और सरल होती हैं यद्यपि जब वे संचरण के समय क्रियाशील होती हैं तो उनमें अनिवार्य रूप से वक्रता का आभास मिलता है लेकिन तब भी उनकी वक्रता शास्त्रीय वक्रता से भिन्न होती है। सामरजी का विचार है कि बहुधा लोक संगीत के मान के साथ जो तीया लगाने की परंपरा है, उससे कभी-कभी शास्त्रीय तालों का भ्रम होता है, लेकिन शास्त्रीयता वहाँ है नहीं। दोनों का अंतर उन्होंने यह कह कर स्पष्ट किया है कि -

> शास्त्रीय संगीत के तीये सभी तालों के साथ प्रयुक्त किये जाते हैं तथा प्रत्येक ताल में तीये के अलग-अलग स्थान नियत हैं- परन्तु लोकसंगीत के तीयों में कोई पूर्व-नियोजन नहीं होता। लोकसंगीतकार को यह भी मालूम नहीं कि मान कहाँ पर है, उसका अमुक गीत में कहाँ से उठाव

होता है, कहाँ से उठने पर तीया मान पर सही आ सकता है। परन्तु फिर भी वह गाते समय सही मान का अनुमान कर ही लेता है और बजाने वाला अनजाने ही मान पर अत्यन्त सही जगह तीया लगा देता है।

इस तरह, अपने विवेचन से सामरजी यह बात भलीभाँति स्पष्ट करते हैं कि यदि कोई शास्त्रीय संगीतज्ञ देखना–समझना चाहे तो यह बात भलीभाँति समझ सकता है कि लोकगीतों में भी स्वर, राग, ध्वनि, ताल आदि सांगीतिक तत्त्वों का निर्वाह हुआ मिलता है। शास्त्रीय संगीत से इनकी भिन्नता इस बात में मिलती है कि यह निर्वाह वहाँ अनायास और सजग होता है, सहज और चेष्टित नहीं। लोकगायक क्योंकि शास्त्र ज्ञान से अनभिज्ञ होता है इसलिये हम उससे किन्हीं शास्त्रीय नियमों के निर्वाह की अपेक्षा नहीं करते। यह तो उसके प्रतिभा ज्ञान का प्रभाव होता है या वंश–परम्परा का प्रसाद कि जो गायकी वह विरासत में पाता है, उसमें प्रमुख शास्त्रीय तत्त्व मोटे तौर पर स्वत: निर्वहित हुए मिलते हैं।

स्वत: का अर्थ यह कतई नहीं है कि उस कलाकार का अपना कोई कौशल नहीं होता या लोककला में उत्कर्ष जैसी कोई चीज नहीं होती। कलाकार जिसे विरासत में पाता है, उसे अपनी प्रतिभा से समृद्ध करता भी चलता है। सहजता से प्रारंभ करके विकास की दिशा में बढ़ते हुए वह कलात्मक जटिलता को सहज क्रम में ही अर्जित कर लेता है और अपनी सूझ से ही मूल स्वर–रचना की सूक्ष्म व्यंजनाओं को भी चरम सौन्दर्य तक पहुँचा देता है। उसकी अपनी आविष्कृत जटिलता भी लोककला को सम्पन्नतर बनाती है। नाट्य–गीतों में कुछ गीत ऐसे भी मिलते हैं जिनमें गायक की कला जब अपने पूरे ऐश्वर्य में अभिव्यक्ति पाती है, तब यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि इन गायकों ने यह कला, बिना किसी प्रशिक्षण के पाई है। ऐसी प्रस्तुतियाँ जिस तरह श्रोताओं को विस्मय विमूढ़ करती हैं, उसका सामरजी कृत यह वर्णन एक सजीव चित्र अंकित करता है –

> परम्परागत लोकगीतों की गायकी का सही प्रतिपादन करने वाले ये ही परम्परावादी लोकनाट्य गायक हैं जिनके ऊँचे स्वरों में फिरने वाले गले मीलों दूर आवाज फेंकते हैं .... व्यावहारिक बोलचाल में कोई यह अंदाज नहीं लगा सकता कि रंगमंच पर उतर कर उनके ये फटे तथा भौंडे गले तीव्रतम होकर स्वरों की गंगा बहावेंगे। दंगल में उतर कर उनके गले धार पर चढ़ जाते हैं। कभी–कभी तो उनकी संगत करने वाले साजिन्दों को भी अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ती है क्योंकि जिन स्वरों पर उनके गले फिरने लगते हैं, उनको वहन करने की सामर्थ्य उनके तारों में नहीं होती। जैसे–जैसे रात बीतती जाती है, प्रदर्शक और दर्शक नाटक की उत्तरांगीय सीमा को पार करने लगते हैं। ये स्वर भी अपनी चरम सीमा को छूकर साज और साजिन्दों पर छा जाते हैं। इस विभोरावस्था में साज हाथों से कब छूट जाते हैं, स्वयं वाद्यकारों को भी पता नहीं रहता। गीतों की गंगा बहती ही रहती है, गायक गाता ही चलता है, श्रोता झूमते ही रहते हैं और ऐसा रस–रंजित वातावरण बन जाता है जैसे बिन बजाये ही साज बज रहे हों।

यह उद्धरण किंचित् विस्तृत हो गया है लेकिन गायक में कलात्मक जटिलता का चरम सीमा तक निर्वाह कर लेने की जो निपुणता होती है, उसे सामरजी ने कैसे लक्ष्य किया है और कैसे उसका सुलझा हुआ और भावना की गहराई में डूबा हुआ विवेचन किया है, उसे इस अंश को उद्धृत किये बिना पाया नहीं जा सकता था। यों भी, सामरजी का विवेचन-विश्लेषण इतना सूक्ष्म और कहीं-कहीं मिलने वाला सादृश्य-विधान भी इतना सटीक और काव्यात्मक होता है कि उनके साथ अन्याय करके ही उसे काटा-छाँटा जा सकता है। यहाँ तो काट-छाँट करके गायक की प्रतिभा के इस चमत्कारी पक्ष का सम्प्रेषण संभव ही नहीं था। लोकगीतों के संदर्भ में हम जो प्रायः सहज और अनायास जैसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं, उससे यह भी एक मिथ-सी बन गई है कि इनका गायक एक 'बेचारा सा' गायक होता है, कला की सूक्ष्मताओं से उसका क्या सरोकार! सामरजी का उपर्युक्त किस्म का जगह-जगह मिलने वाला सूक्ष्म विवेचन इस तरह की मिथ को भी तोड़ता है।

यहाँ गायक के साजिन्दों की सामर्थ्य से परे जाने की जो बात कही गयी है, वह गायक की गायन-कला का उत्कर्ष दिखाने की दृष्टि से ही है, उसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिये कि लोक-वाद्यों के वादक कुछ कमजोर कलाकार होते हैं। वैसे, लोक-वाद्यों और उनके वादकों के बारे में सामरजी ने केवल प्रसंग-प्राप्त विचार ही किया है लेकिन उस विचार में भी प्रभाव वे यही अंकित करते हैं कि अपनी कला में वाद्य-वादक भी वैसे ही प्रवीण होते हैं, जैसे गायन-कला में गायक कुशल होते हैं। अपनी कला को वादक आयत्त भी वैसी ही सहजता से करता है जैसे गायक करता है। याने वादक भी कहीं प्रशिक्षण प्राप्त नहीं करता, जो कुछ भी वह पाता है, संस्कार और परम्परा से पाता है और अपने ही अभ्यास से उसे सान देता चलता है। ताल-प्रसंग में तीया लगाने की चर्चा करते हुए सामरजी जो बात गायक के लिये कहते हैं, वही बात वादक के लिये भी कहते हैं। गायक को शास्त्र-ज्ञान नहीं होने पर भी गाते समय वह तीये का सही अनुमान कर लेता है, उसी तरह –

> बजाने वाला अनजाने ही मान पर अत्यन्त सही जगह तीया लगा देता है। जिस तरह लोक-संगीत का वाद्यकार अपने तारों के बाज बिना स्वर-ज्ञान के सही और शुद्ध तरीके से मिला लेता है, उसी तरह गाने बजाने वाला मान के माने में जगह का भान नहीं होते हुए भी कभी गलती नहीं करता।

इसी प्रकार, कला के धरातल पर सामरजी गायक और वादक में ऊँचे-नीचे जैसा भेद नहीं करते। जैसे गायक की उत्कृष्ट कला का निदर्शन वे नाट्यगीत का हवाला देकर करते हैं, वैसे ही वादक की अप्रतिम वादन-कला का निदर्शन वे भवाई-नृत्य के संदर्भ में करते हैं। भवाई में ढोलक-वादक की वादन-कला के कौशल का इतना चमत्कारी प्रदर्शन होता है कि दर्शक दाँतों तले उंगली दबाने लगते हैं। सामरजी लिखते हैं कि –

राजस्थान के भवाई कलाकार की ढोलक सुनकर हम आश्चर्यचकित इसलिये हो जाते हैं कि वह अनजाने ही में बिना किसी शास्त्रीय ज्ञान के ढोलक पर अत्यन्त वक्रगति की चालें बजाकर अपना चमत्कार प्रदर्शित करता है। भवाई नृत्यकार भी उसके साथ अत्यन्त वक्रगति से नाचकर विलक्षण चमत्कार दर्शाते हुए उसे आसमान के तारे दिखा देता है। भवाई की ढोलक-वादन कला लोक-शैली की होकर भी शास्त्रीय वादकों को एक बार तो आश्चर्य में डाल देती है।

इस प्रकार, जिन सांगीतिक तत्त्वो को शास्त्रीय संगीत में संज्ञा मिली हुई है, लोक-संगीत में चाहे उन्हें संज्ञा न भी मिली हुई हो, और लोकगायक उनसे अनभिज्ञ ही हों, सभी प्रमुख सांगीतिक तत्त्व लोकसंगीत में भी रहते हैं और इसी तरह संगीत का कलात्मक उत्कर्ष भी उनमें मिलता है यद्यपि जीवन की सामान्य दिनचर्या से जुड़े गीतों में या सांस्कारिक उत्सवों से जुड़े गीतों में प्रमुख रूप से सरलता ही रहती है। गाँवों की जीवन-प्रणाली में क्योंकि अकृत्रिमता और सरलता रहती है और क्योंकि लोककला लोकजीवन का अविच्छेद्य अंग होती है इसलिये दैनन्दिन जीवन में उसका जो रूप हम देखते हैं, वह सरलता का ही होता है। लेकिन वह उसका एक पक्ष है। दूसरी ओर, ऐसे गीत-प्रकार भी हैं कि कला जिनमें अपने पूरे वैभव में प्रकट होती है। इस पक्ष से हमारा साक्षात्कार करा कर सामरजी इस धारणा को झुठलाते हैं कि शास्त्रीय कला की तुलना में लोककला दोयम दरजे की कला है। उनका कहना तो यहाँ तक है कि 'शास्त्रीय-संगीत का मूल प्रेरणा-स्त्रोत लोक-संगीत है;' और कई बातें तो शास्त्रीय संगीत में लोकसंगीत के प्रभाव से ही आई हैं, यथा मिश्रित रागों का प्रवर्तन। लेकिन संगीत के इन रूपों में श्रेष्ठता-हेयता जैसा कोई भेद वे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ये ऊपर नीचे की कोटियाँ नहीं हैं, ये दो भिन्न शैलियाँ हैं। उन्होंने लिखा है कि -

> शास्त्रीय-संगीत और लोक-संगीत एक वृक्ष की दो शाखाएँ हैं न कि दुमंजिले मकान की पहली और दूसरी मंजिल। संगीत की ये दोनों विकास दिशाएँ स्वतन्त्र हैं तथा दोनों ही प्रौढ़ संगीत शैलियों के दो विकसित स्वरूप हैं।

उन्होंने दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व अनुष्ठित किया है और यह कहते हुए इनकी भिन्नता का और भी स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि -

> लोक-संगीत शास्त्रीय-संगीत का अविकसित रूप नहीं है और न शास्त्रीय संगीत ही लोक-संगीत का विकसित रूप है- शास्त्रीय संगीत को सुगम कर देने से तथा उसे तान-पलटे, मुरकियाँ तथा स्वर सम्बन्धी पेचीदगियाँ हटाकर गा लेने से ही वह लोकगीत नहीं बन जाता, न लोकगीत को ताल, स्वर तथा तान-पलटों की पेचीदगियों में बाँध देने से ही (उसे) शास्त्रीय बनाया जा सकता है।

असल में लोक कलाओं की उत्स भूमि सांस्कारिक और सामाजिक जीवन है, वह अपने मूल में निरी कला-साधना नहीं है। शास्त्रीय संगीत भी जीवन से ही

जुड़ता है लेकिन वह प्रमुख रूप से कला-साधना है। इस प्रकार, दोनों में प्रकृतिगत अंतर है। एक संगीत तकनीकी है, उसे आयत्त करने के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, जबकि दूसरा (याने लोकसंगीत) परम्परा से साध लिया जाता है यद्यपि परम्परा के भी अपने नियम होते हैं और कहीं कहीं वे कठोर भी होते हैं। यह अंतर इनके परस्पर निकट आने के उपरान्त भी इनमें बना रहता है। बहरहाल, दोनों संगीत शैलियाँ स्वतन्त्र हैं; लोक-संगीत, शास्त्रीय-संगीत का अविकसित रूप नहीं है।

यहाँ देखने की एक बात यह भी है कि सामरजी यही बात लोक-वाद्यों के लिये नहीं कहते। उन्होंने निर्द्वंद्व स्वीकार किया है कि 'यह सिद्धान्त वाद्य-संगीत पर लागू नहीं होता। लोक-वाद्यों के लिये हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि वे शास्त्रीय वाद्यों के अविकसित रूप हैं। लोक-वाद्यों की कल्पना बहुत प्राचीन नहीं है तथा (गीतों का) उनके साथ कोई अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भी नहीं है। उन्हें लोकवाद्य कहने की अपेक्षा केवल वाद्य कहना चाहिये।'

लोक-वाद्यों का यह प्रासंगिक उल्लेख अन्य किसी बात के अतिरिक्त इसका प्रमाण भी है कि लोक और अभिजात की चर्चा में सामरजी किसी कुंठा के शिकार नहीं है। जहाँ लोकपक्ष अविकसित है, वहाँ उसका पिछड़ापन भी उन्होंने अकुंठित भाव से स्वीकार किया है और इसी तरह अभिजात की समृद्धि को भी उन्होंने स्पष्ट स्वीकृति दी है। लोकगीतों का सामाजिक विस्तार क्षेत्र विस्तृत होता है और वे होते भी दीर्घायु हैं, यह स्थापित करने के साथ-साथ उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि -

> सहस्त्रों गीत ऐसे हैं जो अपनी वैयक्तिक परिधि ही में कई वर्ष तक जीवित रहते हैं। उनके काव्य तथा गेय गुण लोकगीतों से भी ऊँचे होते हैं तथा उनकी आयु लोकगीतों से किसी भी तरह कम नहीं होती। उनका सामाजिक-क्षेत्र विस्तार भी लोकगीतों से किसी भी तरह कम नहीं होता। अंतर केवल इतना ही रहता है कि वे अपने रचयिताओं के व्यक्तित्व के साथ देदीप्यमान रहते हैं और **समाज के साथ पारिवारिक जन की तरह संबद्ध नहीं होते**। मीरां, सुर, तुलसी, कबीर-जयदेव, विद्यापति द्वारा रचित गीत ऐसे ही गीतों की गणना में आते हैं।

लेकिन दूसरी ओर, इस बात के प्रति वे पूरे सजग रहे हैं कि ऐसा न हो कि केवल लोक की रचना होने भर से कोई रचना पिछड़ी हुई मान ली जाय। लोक का उन्होंने स्वतन्त्र अस्तित्व अनुष्ठित किया है।

आज परिवर्तन यह आ रहा है कि संगीत की दोनों शैलियाँ-शास्त्रीय और लोक संगीत- एक दूसरे के निकट आ रही हैं। शास्त्रीय संगीतकार लोक-संगीत का उपयोग करने लगे हैं और व्यावसायिक जातियाँ भी लोकसंगीत को शास्त्र की दिशा में ले जाने लगी है। सामरजी ने इस संदर्भ में लोक पर शास्त्रीयता और व्यावसायिकता के प्रभावों को लेकर कई कोणों से विचार किया है।

उनका कहना है कि लोकगीतों का व्यावसायिक उपयोग करना व्यावसायिक जातियों की विवशता है। ये गीत उनकी आजीविका हैं इसलिये वे इन्हें थोड़े-बहुत शास्त्रीय प्रभावों से रंजित कर अपने यजमानों को प्रभावित करती हैं। सामान्य गायन में जिन गीतों की मौलिक स्वर-रचना की बारीकियाँ लुप्त हो जाती हैं अपने प्रयोगों द्वारा ये जातियाँ उनकी सूक्ष्म व्यंजनाओं को उभार कर उनका लालित्य बढ़ा देती हैं और श्रोताओं को आकर्षित कर लेती हैं। अवश्य ही, इस राह से लोकसंगीत की मूल प्रकृति को क्षति पहुँचने की आशंका रहती है लेकिन इनका धनपक्ष यह है कि इन प्रयोगों से ही 'कुछ अत्यन्त आकर्षक और मनोरम लोक शैलियों की उपलब्धि भी हुई है। उनमें राजस्थान की माँडें तथा लावणियाँ, महाराष्ट्र के पवाड़े तथा बंगाल के जात्रा-गीत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।' इन गीतों में शास्त्रीयता के तत्त्व भी मिलते हैं –

> गेय गुणों से ओतप्रोत इन रचनाओं का स्वर-संचार भी अत्यन्त विशद होता है। शास्त्रीय-संगीत की तरह ही इनमें स्थायी अंतरे का स्वरूप कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगता है। इन गीतों के मूल कलेवर को छोटी-छोटी मुरकियों, तानों तथा विशेष झटकों से सजाया-संवारा जाता है। इनकी तालें भी कुछ हद तक वक्र होती जाती हैं, जैसे झूमरा, चाचर आदि। .... कुछ गीत शास्त्रीय संगीत की ठुमरी शैली के अनुरूप हैं ....कुछ ख्याल शैली के अनुरूप।

तात्पर्य यह है कि व्यावसायिक जातियों के हाथों में पड़कर लोकसंगीत भी शास्त्रीयता का आभास देता जान पड़ता है। कुछ गीतों का गेय पक्ष तो इतना प्रबल है कि शास्त्रीय संगीतकार भी इन्हें अपनाने लगे हैं; सामरजी का कहना यह भी है कि इसमें कोई अड़चन भी नहीं है –

> यदि कोई शास्त्रीय संगीतकार किसी लोककृति को शास्त्रीय पद्धति से गाना चाहे तो बखूबी गा सकता है। लोकसंगीत की अपनी मूल स्वर-रचना तो होती ही है, किसी-किसी संगीत में तो स्थायी-अंतरे भी होते हैं। उस विशिष्ट संगीत में जो राग का परम्परागत स्वरूप विद्यमान है, उसको पकड़ कर उसके राग का रूप-विधान निर्धारित करके शास्त्रीय संगीत की विस्तार पद्धति से आलाप, तान आदि का सृजन करते हुए संगीतकार अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से गा सकता है तथा उसमें विशिष्ट तान, लय के चमत्कार बतला सकता है ...... तान पक्ष को मुखरित करने के लिये मूलगीत की स्वर-रचना का आभास देते हुए विविध तानों और पलटों की सृष्टि करता है।

याने शास्त्रीय संगीतकार इन्हें अपना ताना-बाना पहना सकता है लेकिन सामरजी का निष्कर्ष यह है कि शास्त्रीय सजावट से लोकगीत शास्त्रीय नहीं बन जायेगा। एक रूपक से अपनी बात स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि –

> किसी व्यक्ति को कपड़े, अलंकरण आदि पहना देने से ही (वह) कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं बन जाता। उसी तरह शास्त्रीय संगीत के ताने-बाने

> से किसी गीत को सजा देने से यह शास्त्रीय नहीं बन जाता।
>
> दोनों प्रकारों के मिलने की कल्पना ही एक भ्रामक कल्पना है।
>
> लोकसंगीत की शास्त्रीय संगीत में और शास्त्रीय संगीत की लोकसंगीत में परिवर्तित होने की प्रक्रिया बिल्कुल असंभव है।

यदि शास्त्रीय संगीतकार लोकगीत को शास्त्र की दिशा में ज्यादा ले जायेंगे तो भी शास्त्रीय तो वह नहीं बनेगा, 'लोकपक्ष से नीचे जरूर गिर जायेगा।'

व्यावसायिक जातियाँ इन गीतों को जो निखारती हैं, होता वह भी गीतों का शरीर-पक्ष ही है, लेकिन अंतर यह रहता है कि इन जातियों में गीत की मूल स्वर-रचना और उसके भावात्मक पक्ष के रक्षण की चिंता भी रहती है, शास्त्रीय संगीतकारों में यह चिंता नहीं रहती। यों, पेशेवर जातियों की तुलना में भी ज्यादा महत्त्व सामरजी उन जातियों को देते हैं, संगीत जिनका पेशा नहीं है लेकिन जिनमें संगीत की वंशानुगत प्रतिभा होती है; मूल का संरक्षण वहीं ज्यादा आश्वस्तिकारक होता है लेकिन व्यावसायिकता का हस्तक्षेप अब थमने वाला नहीं, बढ़ने वाला ही है।

व्यावसायिक जातियों के प्रयोगों से लोकसंगीत में जो क्लिष्टता आती है, वह उसका कलात्मक सौन्दर्य होती है। क्योंकि सामान्य जन की दृष्टि में शास्त्रीय संगीत क्लिष्ट होता है इसलिये यह समझ लिया जाता है कि लोकगीत क्लिष्ट बनकर शास्त्रीय बन जाता है लेकिन सामरजी ने दो टूक कहा है कि यह धारणा गलत है। लोकपक्ष का विकास-क्रम दर्शाते हुए उन्होंने लिखा है कि -

> लोकगीत बनते हैं, विकसित होते हैं, निखरते हैं, लोक व्यवहार की चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं, फिर क्लिष्टता की ओर प्रवृत्त होते हैं और धीरे-धीरे प्रचार से बाहर होकर विलीन हो जाते हैं।

इनकी चरम सीमा के विषय पर उन्होंने कुछ और भी विचार किया है, पर बहरहाल यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार लोकगीत क्लिष्ट होने भर से शास्त्रीय नहीं बन जाता।

लेकिन लोक और शास्त्र की परस्पर विलीनता की संभावना को अस्वीकार करते हुए भी सामरजी इनकी अंतर्क्रिया के विरुद्ध नहीं हैं। अंतर्क्रिया वे लोक और शास्त्र में भी चाहते हैं और लोक में परस्पर भी। इनका विचार है कि जो प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से संधि-स्थल पर बसे होते हैं, उनके लोकगीतों की पारस्परिक निकटता से उनकी भाषा, भावों और स्वर-सौष्ठव में अपूर्व लालित्य आ जाता है। राजस्थान और गुजरात और अन्यान्य सीमान्त प्रदेशों की लोककलाओं में इसका प्रभूत साक्ष्य मिलता है। इस दृष्टि से राजस्थान के डंडिया और गुजरात के गरबा को देखा जा सकता है। परन्तु इस अंतर्क्रिया के लिये सामरजी ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिन जातियों का सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर समान होता है, अंतर्क्रिया उन्हीं में होती हैं। वहाँ जनसाधारण का भावात्मक स्तर ऊँचा होता है, इसलिये शास्त्रीय को समझना भी उसके लिये उतना कठिन नहीं होता। ऐसी ही

स्थिति में लोक और शास्त्र एक-दूसरे के निकट आते हैं। यूरोप में लोक और शास्त्रीय शैलियों में ज्यादा अंतर नहीं है, उसका रहस्य यही है। दक्षिण भारत में भी सांस्कृतिक विषमता ज्यादा नहीं है इसलिये वहाँ भी शास्त्र और लोक में ज्यादा अंतर नहीं है। उत्तर भारत में सांस्कृतिक विषमता अधिक है इसलिये शास्त्र और लोक में खाई भी यहाँ चौड़ी है। जब जनसाधारण का सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर ऊपर उठेगा तभी शास्त्र और लोक में निकटता आयेगी।

यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सामाजिक-सांस्कृतिक विषमता नहीं रहने पर क्या लोक अन्ततः शास्त्र में विलीन हो जायेगा? सामरजी का मत ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उन्होंने लोक और शास्त्र के एक दूसरे में विलयित होने की संभावना का दृढ़ निषेध किया है लेकिन यहाँ विशेष रूप से स्मरणीय यह है कि लोकनृत्य पर विचार करते हुए उन्होंने संभावना का पथ अवरुद्ध नहीं किया है। उन्होंने लिखा है कि -

> दक्षिण भारत में लोक कला और शास्त्रीय कलाएँ काफी समरूप होने लगी हैं। कथकली और कुचपुड़ी नृत्य किसी समय नृत्य की लोकशैली में ही शुमार थे, परन्तु वे आज परम दर्जे के शास्त्रीय नृत्य बन गये हैं।

क्या इसी तरह यह संभव नहीं है कि राजस्थान के कुछ लोकगीत शास्त्रीय-गीत बन जायें? कुछ गीतों या धुनों के, शास्त्रीय-संगीत में पर्यवसित हो जाने के निदर्शन स्वयं सामरजी में ही यत्र-तत्र मिल जायेंगे; लेकिन ऐसी कोई सैद्धान्तिक संभावना वे नहीं पाते।

सामरजी ने लोकगीतों के विकास-क्रम और उनके चरम उत्कर्ष पर भी विचार किया है। इनका उत्कर्ष शास्त्रीयता में पर्यवसित होने में नहीं होता, कुछ स्वर-रचनाएँ चाहे शास्त्रीयता में अन्तर्धान हो भी जाती हों। अपने प्रारंभिक रूप में गीत में शब्द-पक्ष की प्रभुता रहती है लेकिन जब वह प्रसार पाता है और उसका सरलीकरण होता है, तब उसमें उतने शब्द ही रह जाते हैं जो भाव वहन करने और प्रभाव उत्पन्न करने के लिये आवश्यक होते हैं। जिन गीतों का प्रसार क्षेत्र विस्तृत होता है, वे व्यावसायिक जातियों द्वारा अपना लिये जाते हैं। उनके हाथों उनका स्वर-सौन्दर्य निखरता तो है लेकिन उनकी स्वर-रचना क्लिष्ट हो जाती है और लोकपक्ष दुर्बल हो जाता है। ऐसे में वे गीत प्रसार पाते हैं जिनका लोकपक्ष प्रबल होता है यानि जिनमें सांस्कारिक लगाव अधिक गहरा होता है। इस लगाव की वजह से ही कई बार सामान्य लोकगीत भी उच्चकोटि के गीतों से अधिक प्रतिष्ठा पा जाते हैं। प्रवृत्ति इन गीतों की भी शब्दों से मुक्त होकर स्वर-सौंदर्य को पाने की होती है क्योंकि चरम उत्कर्ष स्वर-शब्द-विलगीकरण के बिना पाया ही नहीं जा सकता लेकिन कठिनाई यह आती है कि विलगीकरण की स्थिति में गीत को केवल कंठ की गुनगुनाहट के रूप में रहना होता है, परन्तु उस रूप में गीत की अवस्थिति दीर्घकाल तक नहीं रह सकती। निदान, ये वाद्यकार की धुन के रूप में जीवित रहते हैं। जिन गीतों की धुनें मधुर और लोकग्राही होती हैं और जो अपने प्रभाव के लिये शब्द-सौंदर्य पर नहीं, स्वर-लालित्य और हृदयग्राही

बंदिशों पर निर्भर करती हैं, वे ही अन्ततः वाद्य–संगीत पर जीवित रहती हैं। श्रोता इन धुनों को सुनकर ही गीत का अनुमान कर लेता है। यही इनकी चरमता होती है। यह स्थिति स्पृहणीय तो होती है लेकिन विरले गीत ही इस चरम उत्कर्ष को पाते हैं।

सच्चाई तो यह है कि किसी लोकगीत के लिये ये दोनों ही बातें असामान्य हैं; स्वर–शब्द–विलगीकरण भी और वाद्य–संगीत पर गीत की निर्भरता भी। 'अधिकांश धुनें तो शब्दों के साथ चिपकी रहती हैं। कुछ ऐसी भी होती हैं जो इस स्थिति को प्राप्त करने से पूर्व ही समाप्त हो जाती हैं और कुछ ही ऐसी होती हैं जो शब्दों के जंजाल से मुक्त होकर आध्यात्मिक लिबास में लिपटकर दीर्घजीवी हो जाती है।' लेकिन जो भी हो, सामरजी के अनुसार, गीतों की स्पृहणीय आदर्श स्थिति यही है।

लोकगीतों के विचार–विवेचन के अन्तर्गत ही सामरजी ने लोकगीतों में इतिहास तलाशने की विद्वानों की प्रवृत्ति पर भी विचार किया है। जीवन के हर पक्ष के साथ लोकगीतों के सांस्कारिक जुड़ाव को देखते हुए साहित्य के विद्वानों में ऐसी धारणा बन गयी है कि इन गीतों के अनुशीलन से सम्बन्धित क्षेत्र का जीवन ही नहीं, वहाँ का इतिहास भी पाया जा सकता है। कई बार प्राचीन ग्रंथों की प्राचीनता का निरूपण उनकी भाषा के सहारे भी किया जाता है, उससे लोग समझते हैं कि लोकगीतों की भी प्राचीनता का पता लगाया जा सकता है, लेकिन देवीलाल सामर ने इस धारणा को भ्रामक ठहराया है। उनका कहना है कि – 'किसी भी लोकगीत पर किसी काल–विशेष की छाप अंकित नहीं रहती।' 'जो लोकगीतों को पचास या सौ वर्ष पुराना कहते हैं, या उसे ब्रज, हिन्दी या उर्दू भाषा का ठहराते हैं' या उस पर डिंगल का प्रभाव या किसी रचना–विधि का प्रभाव बताते हैं, 'वह सब अटकलबाजी हैं।' इन सभी 'अटकलों के पीछे लोकगीत विषयक सैद्धान्तिक विश्लेषण की कमी है।' सिद्धान्त यह है कि लोकगीत निर्झरी प्रकृति के होते हैं। निर्झर में प्रवाह सतत रहने पर भी जल उसका कभी वही नहीं रहता; उसी तरह, लोकगीत की भाषा भी कभी वही नहीं रहती जो किसी समय–विशेष में होती है। ये गीत भाषा का प्रचलित मुहावरा अपनाये चलते हैं। क्योंकि बोलचाल की भाषा कभी पुरानी नहीं पड़ती, इसलिये गीत पुराना होकर भी अद्यतन बना रहता है। गीत चाहे कितना ही पुराना हो, गाया वह लोकभाषा में ही जाता है, इसलिये उस स्थान की भाषा के अज्ञात रूप से बदलते जाने के साथ ही गीत की भाषा भी स्वतः ही बदल जाती है। गीत चाहे तीन सौ वर्ष पुराना हो, उसकी धुनें और व्यंजनाएँ भी चाहे न्यूनाधिक वे ही हों, भाषा उसकी वही नहीं रहती, वह अद्यतन होती चलती हैं, इसीलिये सामरजी कहते हैं कि –

> किसी भी क्षेत्रीय भाषा के लोकगीत अपनी स्थलीय नवीनतम भाषा–शैली में ही जीवित रहते हैं।

इसीलिये उनकी भाषा से उनकी प्राचीनता का अनुमान करने का विचार ही निर्मूल है। सच तो यह है कि भाषा नहीं बदले तो गीत मृत हो जाता है। डिंगल क्योंकि बोलचाल की भाषा नहीं है इसलिये हमें डिंगल के गीत भी आज नहीं मिलते।

इसी तरह, सामरजी का कहना यह भी है कि 'किसी लोकगीत को सुनकर हम इतिहास या अतीत का चित्र अंकित नहीं कर सकते।' लोकगीतों के सामाजिक विवेचकों को यह मत अग्राह्य हो सकता है क्योंकि कई क्षेत्रीय महत्त्व के ऐतिहासिक व्यक्तियों से जुड़े हुए गीतों का शुमार प्रायः लोकगीतों में ही किया जाता रहा है, लेकिन सामरजी इस दृष्टिकोण के हामी नहीं हैं। वे इन गीतों को लोकगीतों से पृथक ऐतिहासिक-धार्मिक गीतों की श्रेणी में रखते हैं। उनका कहना है कि -

> किसी ऐतिहासिक तथा धार्मिक व्यक्ति-विशेष के गीतों के सैंकड़ों संकलन हमारे साहित्य में हुए हैं जिनसे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन का भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है। राजस्थान का सच्चा इतिहास तो इन्हीं वीरगीतों तथा काव्य-ग्रन्थों से लिखा गया है।

परन्तु सामरजी के अनुसार न तो इन्हें लोकगीत कहा जा सकता है और न ही यह बात लोकगीतों पर लागू की जा सकती है। लेकिन इस कोटि के जिन गीतों की भाषा समय के साथ बदलती गयी है, उनके लिये क्या कहा जायगा, इस पर सामरजी ने विचार नहीं किया है। जो लोकगीत सौ वर्ष पहले के लिखे हुए मिलते हैं, उनके वर्तमान संस्करण से उनकी तुलना करके संगीत या समाज-विज्ञान के महत्त्व की कुछ बातें बरामद की जा सकती हैं, इससे वे इंकार नहीं करते, परन्तु यह एक भिन्न बात है। ऐतिहासिक गीत या वीर-गीत, लोकगीत नहीं हैं।

इस प्रकार, एक ओर लोकगीतों से जुड़े विभिन्न प्रश्नों और विवादास्पद मुद्दों पर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से विचार करके और दूसरी ओर, उनकी संरचना पर सांगीतिक दृष्टि से विशेष विचार करके उनमें अकूत स्वर-सौन्दर्य और अनुपम ध्वनि-वैशिष्ट्य के साथ लय, ताल, राग आदि का अस्तित्व दिखाकर उन्होंने शास्त्र के बरक्स लोक-संगीत की स्वतन्त्र सत्ता ही अनुष्ठित नहीं की है, लोकगीत का अपना शास्त्र भी रच दिया है।

राजस्थान का लोक संगीत

आजकल लोक गीतों सम्बन्धी जितने लेख पढ़ने को मिलते हैं, उनमें उनके साहित्यिक या भावात्मक मूल्यों का तो उल्लेख मिलता है, लेकिन संगीत की चर्चा नहीं के बराबर होती है। और जब कि वस्तुतः लोक गीतों का प्रभाव जितना काव्य में निहित नहीं होता है, उतना उसके गाने के प्रकार में निहित होता है।

राजस्थानी का एक गीत है- 'गोरबन्द', जिसमें ऊंट के आभूषण को बनाने की क्रिया का वर्णन है। इस आभूषण को सूत के धागों से बट कर तथा कोडियां पिरोकर बनाया जाता है। एक स्त्री इस आभूषण को बनाने के श्रम और उस श्रम के आनन्द का वर्णन करती है। यह सारा गीत मनुष्य की मेहनत के प्रति सौन्दर्य-भावना को जागृत करता है। उस स्त्री ने घर के कितने ही काम काज के बीच में समय निकाल कर वह निराला आभूषण तैयार किया है। जहां तक इस गीत में आने वाले शब्दों का अर्थ है, वह तो ठीक है, लेकिन जब तक इन शब्दों को और इस छन्द को कहरवे की ताल पर थिरकता हुआ संगीत नहीं मिलता तब तक हम अभिव्यंजना का आनन्द उठा ही नहीं सकते। यदि संगीत के साथ इस गीत का सौ फीसदी आनन्द उठाया जा सकता है, तो संगीत के बिना आनन्द का प्रतिशत दस भी नहीं रहता।

'गोरबन्द' ही की भांति ईंढ़ाणी, लवारजी, जल्लो, हिचकी, ओलू, सपनों एवं कुरजां आदि गीत भी है। इन गीतों की धुनें इतनी शक्तिशाली और वेगपूर्ण है कि यदि उसकी पहली पंक्ति ही केवल वाद्य पर बजाई जाय तो सुनने वाले का सिर आनन्द से हिलने लगेगा।

मुझे केवल यहां इसी बात पर पूरा जोर देना है कि किसी भी लोक गीत के छपे हुए आखरों को पढ़ लेना और समझ लेना, लोक गीतों की आत्मा को समझना नहीं हो सकता। संगीत कान की चीज है, श्रवण का सुख है; इसलिये लोक गीतों में कान का पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि आवश्यक है।

राजस्थानी लोक गीतों पर यदि हम शास्त्रीय राग-विधान की खिड़की से देखें तो पता लगेगा कि बिलावल, [अल्हैया बिलावल एवं कुकुभ बिलावल विशेषतौर पर] काफी, देश, खमाज, एवं पींलू मुख्यतः प्रयुक्त होती है। उनमें भी बिलावल और काफी का प्रयोग अधिक मिलता है। इन रागों के अत्यन्त शुद्ध रूप भी मिलते हैं और मिश्रित भी।

अभी तक लोक गीतों का सम्पूर्ण अध्ययन इस दृष्टि से करना शेष है। इसलिए मैं केवल इतना ही कह सकूंगा कि शास्त्रीय संगीत की शुद्धता का निबाह भी लोक गीतों में होता है और होता रहा है। लोक गीतों से ही शास्त्रीयता का स्वरूप

निखरता और बनता चला है। इसके उदाहरण-स्वरूप में राजस्थान की एक ऐसी लोक गीत-पद्धति की ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ, जो आज लोक गीतों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है और शास्त्रीय दृष्टि से भी पूर्णतयामान्य है। इस गान पद्धति का नाम है- 'मांड'। मांड की इस समय ऐसी स्थिति है कि न इसे पूर्णतया राग की कोटि में लिया जा सकता है और न इसे आत्म-मुक्त भाव से गाये जाने वाला लोक गीत ही कहा जा सकता है। यों तो मांड को एक राग की तरह गाने की परंपरा चल निकली है, लेकिन मैंने इसे गान-पद्धति के रूप में इसलिए प्रयुक्त किया है कि विभिन्न राग-रागिनियों में शुद्ध बिलावल, अल्हैया बिल बल, कुंकुभ, बिलावल, देश एवं समाज में गाया जाता है। अतः मांड को किसी भी हालत में एक राग तो नहीं कहा सकता, जबकि यह एक प्रकार का गीत है, जो विभिन्न रसों की अभिव्यंजना के साथ अपने स्वर-स्वरूप को बदलता रहता है। मांड को हम आज अधिक से अधिक ठुमरी या ग़ज़ल के निकट रख सकते हैं। लेकिन साथ ही एक बात है कि धीरे-धीरे मांड का प्रचलन इस प्रकार रूढ़ और निश्चित बनता जा रहा है कि वह एक-न-एक दिन शास्त्रीयता की दृष्टि से सम्पूर्ण स्वरूप ले लेगा।

राजस्थानी लोक गीतों में मांड ही एक ऐसी पद्धति है जिसे राजस्थान की, शास्त्रीय संगीत को, विशेष देन के रूप में लिया जा सकता है। मांड की धीमी और ठण्डी चाल में हमारे प्रान्त की प्रकृति का एक सुन्दर चित्र भी है। रेत के टीलों में आपका स्वर तैरता हुए बहुत समय तक लहराता रहता है। मांड में भी ठीक वैसी ही संगीत-व्यंजना हुई है। मांड-शैली को यदि आप पहाड़ी गीतों के प्रतिध्वनिपूर्ण लोक गीतों की तुलना में परखें तो भाव स्पष्ट हो सकेगा।

शास्त्रीय संगीत में जैसे स्वरों के उत्थान-पतन का अपूर्व विश्लेषण होता है, ठीक वही स्थिति ताल की भी है। ताल के लिए तीन समान समय का विभाजन एवं आवृत्ति होना आवश्यक है। तभी एक गति का अनुमान हो सकता है। जैसे किसी भी वस्तु पर आप अपने हाथ से एक, दो और तीन बार ठक-ठक-ठक कीजिये-पहले, दूसरे व तीसरे के बीच में जो समय का निभाव किया है, उसे निरंतर कायम रखते हुए बजाते चलिए-आपको ताल की गति का अनुमान होने लगेगा। शास्त्रीय संगीत ने इन्हीं तीन आवृत्तियों के बीच में ताल का प्रारम्भ माना है। अब इसका विस्तार मुख्यतया दादरा (छः मात्रा), कहरवा (आठ मात्रा), झपताल (दस मात्रा), एक ताल (१२ मात्रा) आड़ा चौठाला (१४ मात्रा) एवं त्रिताल (१६ मात्रा) में लिया है। इन मात्राओं के आधार पर ही राग रागिनियों को गाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि गाने वाले को निरंतर विशिष्ट मात्राओं के अन्त में लौट कर आना पड़ता है। यहां पर ही तबला या ताल बाजों का महत्त्व आता है।

अतः जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत में ताल के बिना गायन नहीं हो सकता, उसी प्रकार लोक गीतों में भी उनका होना आवश्यक है। शास्त्रीय संगीत की उत्तर भारतीय प्रथा में मुख्यतया तबला, पखावज व मृदंग ताल के लिए संगत में रहते

हैं। लोक गीतों में ताल की दृष्टि से ढोलक, मजीरें, नगारे, चंग, डफ, अपंग आदि कितने ही वाद्य रहते हैं। इन वाद्यों द्वारा लोक गीतों में भी निश्चित बंधन (ताल का नियमन) आ जाता है।

राजस्थानी लोक गीतों में अधिकतर निम्नलिखित तालों का प्रयोग होता है-

१.	दादरा :	६ मात्राएं –	धा धिन ना। धा तिन ना
२.	चाँचार :	७ मात्राएं –	धाक धिन धा धिन धाक तिन धा धिन
३.	तीवरा :	७ मात्राएं –	धिन ना धिन ना। तिन तिन ना
४.	कहरवा :	८ मात्राएं –	धा गि न ति न क धि ना

ये तालें ढोलक, तबले और नगारे के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। डफ व चंग पर अधिकतर कहरवा बजाया जाता है। मजीरों में भी निश्चित बीट्स दी जाती हैं। लोक गीतों में प्रयुक्त होने वाले तार-वाद्यों में भी ताल बताने का विधान होता है। जैसे, रावण-हत्थे में राग पर घुंघरू ताल का ही काम देते है या भजन के साथ का एक तारा स्वर भी देता है और ताल भी। इसी प्रकार दूसरे वाद्य भी हैं।

अत: लोक गीतों में भी तालों का ठीक उतना ही कठिन जाल फैला हुआ पाते हैं, जो शास्त्रीय ताल वाद्यों में है। राजस्थानी लोक गीतों की प्रसिद्ध गान पद्धति मांड में अधिकतर दादरा ही चलता है। किन्तु अन्य मुख्य-मुख्य गीतों में तीवरा, चांचर अथवा कहरवा चलता है। कहरवा की चलत धुन में एक मस्ती और आदमी को बहा ले जाने की असाधारण क्षमता है। उसके बीच-बीच में आने वाले बोल भी खूब मुक्त होकर रचे जा सकते हैं। तालों में संभवतया कहरवा ही ऐसी ताल है जिसको दिल खोलकर बजाया जा सकता है और सम व गति को छोड़ने का भय नहीं रहता। सामूहिक लोक गीतों में तो ताल ही प्रमुख रहती है। चांचर व तीवरा- ये दो तालें शास्त्रीय संगीत में उतनी प्रचलित नहीं हैं, जितनी कि लोक गीतों में हैं। सात मात्राओं में बंटी हुई तीवरा व चांचर दो विभेद मात्र हैं।

लोक गीतों की गायन-प्रणाली

राग एवं ताल के पश्चात् हम लोक गीतों की गायन प्रणाली पर विचार करें। यहां सुविधा के लिए लोक गीतों के दो भेद कर लेते हैं। प्रथम तो वे गीत हैं जो सामूहिक रूप से विशेष अवसर पर स्त्रियां (अधिकतर) एवं पुरुष मिल-जुल कर गाते हैं। गीतों में पारिवारिक गीत, त्यौहार गीत और रीति-रिवाज से संबंधित गीत हो सकते हैं। दूसरी प्रकार के गीत वे हैं जिनमें लोक कथाएं हैं, जिनमें

अपने देवों की श्रद्धापूर्वक अर्चना की गयी है, जिनमें महान पुरुषों की जीवनियां गायी गयी हैं, जिनमें मानव-हृदय के सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार के गीतों में गायन-प्रणाली का प्रश्न उठता है। पहिले प्रकार के गीतों में तो उचित अवसर पर एकत्रित होकर गाना शुरू हो जाता है [जैसे विवाह में, होली पर, मुंडन आदि के समय] दूसरी प्रकार के गीत बुनियादी तौर पर पहिले प्रकार से अलग हैं।

सबसे पहिले हम लोक कथाओं के गाने की प्रणाली को लेते हैं। प्रचलित लोक कथाओं के विषय अधिकतर 'प्रेम के इर्द-गिर्द' घूमते हैं। कुछ देवताओं और नेक कार्यों से संबंधित होने के कारण धार्मिक भी हैं। किन्तु प्रभावशाली ढंग से धर्म-निरपेक्ष प्रेम-कहानियां ही गाई जाती हैं। इनमें मुख्य ढोला-मारु, नागजी-नागवन्ती, खींवजी-आबलदे, जश्मादे-रतनपाल, काछबो, सावरलंगा-चदबस आदि आदि प्रमुख हैं। इन कहानियों में प्रेम सम्बन्धी सुन्दर दोहे हैं और इन दोहों को एक मुख्य काव्यात्मक पंक्ति [स्थाई] से जोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार दोहों में घटना का उल्लेख करने के पश्चात् गायक मुख्य पंक्ति पर आ जाता है। लगभग सब कथाओं में दोहों को गाने का तरीका एक ही है, लेकिन मुख्य पंक्ति को गाने का तरीका अलग-अलग है। इन पंक्ति के साथ ही ताल-वाद्य बजता है, जिसमें अधिकतर कहरवा या दादरा ही रहता है। दोहों से प्रारम्भ होकर एक भाव पूरा होते ही मुख्य पंक्ति का ताल सहित प्रारम्भ हो जाता है। मेरी बात समझने के लिये रामायण के पाठ को लिया जा सकता है या ग़ज़ल को गाने के तरीके से समझा जा सकता है।

लगभग सभी प्रेमकथाओं की घटनाएं मनोरंजक और हृदयग्राही हैं। इसलिए एक तो घटना-तत्व के कारण ही सुनने वाले का मन लगा रहता है। दूसरे इसके साथ ही दोहों की अभिव्यंजनाएं इतनी सुन्दर होती हैं कि सुनने वाला अपने मन को हटा नहीं पाता है। इससे बढ़कर जब संगीत भी मिल जाता है तो दोहों का काव्यत्व भी निखर उठता है। क्योंकि संगीत में पंक्ति को निखरने व फैलने का अवसर मिल जाता है और इससे अर्थ ग्रहण करने में सुगमता आ जाती है। इसी श्रेणी में 'पड़ों' को भी लिया जा सकता है, जिनमें महान् जीवनियों का उल्लेख रहता है।

लोक गीतों की सबसे प्रांजल, पवित्र सुन्दर और महत्त्वपूर्ण धारा वह है, जो मनुष्य के मन के कोमलतम भावों को अभिव्यक्त करती है। ये गीत ही सबसे महत्त्वपूर्ण धरोहर हैं। यहाँ काव्य और संगीत का महामिलन एक महान् अनुभव है। इस श्रेणी के गीतों में पणिहारी, कुरजां, ओलूं, सपनों, हिचकी, गोरबन्द, ईंढांणी आदि आते हैं। पणिहारी की मनोहर कथा इतनी ही है कि एक बाल-विवाहित पणिहारिन कुएँ (कहीं-कहीं तालाब) पर पानी भरने जाती है। वहां एक नवयुवक उसे छेड़ता है। वह उस नवयुवक को देखते ही प्रेम से सराबोर हो उठती है, लेकिन ऊपर से कोसती चलती है। घर पहुंचने पर बाल-विवाहिता नवयौवना को सास कहती है, यही मेरा पुत्र और मेरा पति है। नवयुवती के

आनन्द की सीमा नहीं रहती। घटना की मनोरंजकता, कोसने का उपक्रम, युवक का आकर्षण और अन्त का मिलन–स्वरों के लिए एक जबरदस्त परीक्षा है। क्या वे मन के इतने भावों को एक ही साथ व्यक्त कर सकने में समर्थ होंगे? किन्तु पणिहारी गीत में सुन्दर निभाव हुआ है।

इसी प्रकार कुरजां भी हैं। कुरजां एक पक्षी है, जिसे राजस्थानी लोक गीतों में संदेश–वाहक पक्षी के रूप में वर्णित किया गया है। कुरजां के दो रूप लिये गये हैं– एक तो पति को संदेश देने वाले के रूप में, तथा दूसरा–बहिन का अपने भाई का बहू का पीहर संदेश ले जाने के लिए। मुझे दूसरा रूप ही अधिक सुन्दर लगा, क्योंकि पीहर की याद में जो भावों की उच्छल मौलिकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुरजां सम्बन्धी अनेकों गीत प्रचलित है। इसी प्रकार ओलूं, हिचकी, सपनों आदि के भी अनेकों स्वरूप मिलते हैं। ये गीत भी मुख्यतया दादरा में बन्धे हैं, तथा विशिष्ट श्रेणी में गाये जाते हैं। यह गीत परम्परा, जाति, वंश और शिष्य परम्परा से आज भी चल रहे हैं।

भजन एवं बाणी

भजन एवं बाणी भी वास्तव में गायन–प्रणालियां ही हैं। इनके विषय मुख्यतया धार्मिक ही होते हैं। विभिन्न राग–रागिनियों में बन्धी हुई ये बाणियां या भजन आज अधिकतर छोटी जाति के लोगों में सबसे ज्यादा प्रचलित हैं। सभी भजन रागों के भेदोपभेद में बंटे हैं। हमारी दार्शनिक परम्परा को ठेट जन–साधारण तक ले जाने का श्रेय इन्हीं मनोरंजक गीत–शैलियों को ही है। निम्नतम जातियों ने इस गीत–परम्परा को अपना कर उनमें जीवन देने का बहुत प्रयत्न किया है। रात रात भर बैठ कर ये लोग गाते रहते हैं। चमार, बलाई, रेंगर, भांभी, हरिजन आदि–आदि जातियों में बाणियों का सुन्दर रूप मिलता है। बाणियों को गाने में यह विशेषता रहती है कि गाने की पंक्ति के अन्त को अलाप में बढ़ा दिया जाता है। हर पंक्ति को अलाप की गम्भीरता मिल जाती है, जिससे उन पंक्तियों में छिपे दार्शनिक भाव को समझने व हृदयंगम करने में सहायता मिल जाती है। मजीरें, ढोलक और एक तारा ही उनके वाद्य रहते हैं।

राजस्थानी वाद्य यंत्र

लोक गीतों में वाद्यों का सीधा सम्बन्ध, गायन-विशेष से है। गाना और वाद्य का मानों रासायनिक सम्बन्ध है। उनको एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। लोक गीतों में काम आने वाले वाद्यों के दो प्रयोजन हैं- एक तो स्वरों के उत्थान-पतन के अनुकूल चलना और दूसरे उसकी लय को कायम रखने के लिए ताल देते चलना।

स्वरों के साथ चलने वाले वाद्य दो प्रकार के हैं- तार-वाद्य और फूँक से बजने वाले वाद्य। तार वाद्यों को दो प्रकार से उपयोग में लाया जाता है- एक गज के द्वारा संचालित होता है तथा दूसरा अंगुली, मिजराफ़ या अन्य किसी वस्तु के आघात से स्वरों को झंकृत करता है।

ताल-वाद्यों का प्रमुख प्रयोजन, गीत को संतुलित मात्राओं में बँटे हुए आगे बढ़ाये चलना है। ताल के बिना गीत का प्रभावशाली होना ही असंभव है। लोक गीतों में प्रयुक्त होने वाले ताल-वाद्यों को भी हम दो भागों में बांट सकते हैं। एक तो वे ताल-वाद्य, जो गायन के साथ ही विभिन्न ताल-रूप ग्रहण कर सकते हैं; तथा दूसरे वे, जो केवल दो मात्राओं के बीच के समय-क्रम को ही बता सकते हैं। पहिले प्रकार में ढोलक, नगारा, मादल आदि हैं तथा दूसरे प्रकार में मजीरा, थाली, झीझा और करताल आदि हैं।

लोक-वाद्यों में ताल और स्वर-वाद्यों की इस विभिन्नता के साथ ही कुछ ऐसे वाद्य भी हैं, जो ताल और स्वर, दोनों का काम देते हैं। तमूरे की तरह स्वर देना और विभिन्न तालों का उपयोग देना वीणा या चौतारें या एकतारे की विशेषता हैं। लोक-वाद्यों की यह विशेषता, शास्त्रीय रूप में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों में नहीं है।

राजस्थान में तीन दोहे प्रचलित हैं। इनमें वाद्यों के प्रकार पर कहा गया है:

> जग में सब श्रोता कहे, बाजा साढ़ा-तीन।
> खाल, तार और फूँक है, अद्ध ताल सुर हीन॥

अर्थात्- सुनने वालों का कहना है कि जग में साढ़े तीन प्रकार के साज हैं- खाल, [ढोल, ढोलक, तबला आदि] ताल और फूँक से बजने वाले, यह तो पूरे-पूरे तीन वाद्य हैं। किन्तु आधा साज और है। ये आधे वाद्य वे हैं, जिनमें ताल हैं लेकिन स्वर नहीं। मादल को, बांसुरी को, रावणहत्थे को किसी स्वर से बजाया जा सकता है लेकिन मजीरें, झांझ या करतालों में स्वर मिलाने की गुँजाइश नहीं है। अत: इन वाद्यों को 'आधा' वाद्य माना गया है:

> खाल नगारा ढोल डफ, और पखावज जान।
> तार तंबूरा वीण है, सारंगी सुरमांन॥

फूँक में पूंगी बासुरी, सैनाई नर सार।
ताल मंजीरा झींझ है, बाजे इत तैयार॥

ऊपर के दोहों में साजों के नामों को गिनाया गया है। अब एक एक प्रकार के वाद्यों की विशिष्टताओं को देखा जाय। सबसे पहिले तार वाद्यों को ले लेते हैं।

सारंगी

सारंगी तार-वाद्यों में श्रेष्ठतम वाद्य है। प्रत्येक स्वर और प्रत्येक गायकी के सौन्दर्य को अभिव्यक्त कर सकती है। इसमें कुल २७ तार होते हैं। गज से बजायी जाती है। यह गज घोड़े की पूंछ के बालों से बनाया जाता है। गज को 'बेरजा' नामक एक वस्तु पर घिसा जाता है, तब ये बाल तार में 'नाद' उत्पन्न कर सकते हैं। सारंगी का उपयोग, शास्त्रीय-संगीत में बहुत प्रचलित है। यह साज गाने वाले के साथ-साथ चलता है। लोक-गीतों में, गाने वाला और बजाने वाला एक ही व्यक्ति होता है। लेकिन शास्त्रीय-संगीत में सारंगी से संगत करने वाला दूसरा व्यक्ति होता है। इसके स्वर बहुत मीठे और कंठ के लिए बहुत सच्चे होते हैं। सारंगी के ही आधार पर, राजस्थान में गुजरातण सारंगी और सिंधी सारंगी का उपयोग होता है। गुजरातण सारंगी में तरफों के स्वर केवल सात ही होते हैं। सिंधी सारंगी की बनावट और लंबाई-चौड़ाई, अन्य मान्य सारंगियों से अलग है। जैसलमेर की ओर के लंगे जाति के लोकगायक इसी प्रकार की सारंगियों पर गाते हैं।

कामाइचा

यह भी सारंगी ही के प्रकार का २७ तारों वाला वाद्य होता है। लेकिन इसकी बनावट सारंगी से बिलकुल अन्य प्रकार की होती है। सारंगी की तबली लंबी होती है, लेकिन कामाइचा की तबली लंबी होती है, लेकिन कामाइचा की तबली गोल होती है और यह गोल तबली डेढ़ फीट के लगभग चौड़ी होती है। तबली मंडावण चमड़े का ही होता है। इसका गज, सारंगी के गज से लगभग डेढ़ा होता है। हाथ से नापने पर, वह चार बेंत के लगभग आता है। कामाइचा की आवाज में भारीपन होता है। आवाज के इस भारीपन को संगीत में स्वर की तीव्रता कहते हैं। तीव्रता, कम्प-विस्तार पर निर्भर करती है। तबली की चौड़ाई और गोलाई के कारण स्वर को गूंजने का खूब अवसर मिलता है। कामाइचा के ऊपर का स्वरूप, बहुत कुछ, मराठी सारंगी से मिलता है। तरफों की खूंटियां भी सब ऊपर की ओर होती हैं। कामाइचा के एक ओर, गुजरातण सारंगी की भाँति, केवल सात तरफ होती है सा से सां तक।

इस साज को मुख्यतया मुसलमान शेख बजाते हैं। इन्हें मांगणियार भी कहते हैं। इस पर अधिकतर भजन और बायरिया के गीत गाये जाते हैं।

जंतर

मेवाड़ के सवाईभोज, नेगड़िया, बदनौर क्षेत्र में बजाये जाने वाला यह यंत्र, बहुत अनोखे किस्म का है। इसका स्वरूप वीणा के समान है, लेकिन इसको, गले में

पहिन कर, खड़े–खड़े बजाया जाता है। वीणा की भाँति इसमें दो तूंबे होते हैं और इन दो तूंबों के बीच में बाँस होता है। इस बाँस पर, एक जानवर की कड़ी खाल के २२ पर्दे, मोम से चिपकाये हुए होते हैं। यह पर्दे सितार की तरह हटाये नहीं जा सकते। पर्दों की जगह, कुछ लोग, मगर की खाल भी काम में लेते हैं। इन पर्दों के ऊपर तार होते हैं, जिनको हाथ की अंगुली और अंगूठे के आघात से बजाया जाता है।

इस जंतर को बजाने में, दोनों हाथ, अपनी पूरी लम्बाई तक फैल जाते हैं। नीचे रहने वाला भाग (बाँस का – जिसके पीछे तूँबा आ जाता है], दाहिने हाथ के अंगूठे और अंगुलियों के बीच में आ जाता है, और तार के नीचे से ही, अंगुलियाँ और अंगूठे, विपरीत दिशा में खुलते हुए, आघात करते हैं। खाली हाथ में अंगूठे और अन्य अंगुलियों को मिलकर खोलिये– कुछ झटका देकर – तो आघात करने का तरीका समझ में आ जायेगा। दाहिने हाथ के इस आघात के साथ, बाँया हाथ, विभिन्न स्वरों को छूता हुआ निकल जाता है। जंतर में हाथ का आघात कुछ इस प्रकार से होता है कि ताल का भान भी उसी में होने लगता है। चौतारे और इकतारे की विवेचना में ताल और स्वर की यह बात समझ में आ सकेगी।

इस वाद्य को, बगड़ावतों की कथा कहने वाले काम में लाते हैं। बगड़ावतों की कथा एक लम्बे पर्दे पर चित्रित रहती है, जिसके सामने खड़े होकर, जंतर की संगत के साथ, गायक कहानी कहता है। देवनारायण के भजन और गीत भी ये लोग गाते हैं।

रवाज़

सारंगी की शक्ल का यह वाद्य मेवाड़ में बजाया जाता है। किन्तु इसमें गज काम में नहीं लिया जाता। गज के स्थान पर 'नखे से' आघात किया जाता है। आघात के साथ ही, बिना पर्दे वाले तारों पर, सारंगी की भाँति स्वर निकाले जाते हैं। इसमें कुल १२ तार होते हैं। चार प्रमुख तार तांत के होते हैं और तरफों की जगह आठ तार होते हैं।

राव और भाट जाति के लोग इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतया गाडरियों के राबों का यह साज है।

रावणहत्था

राजस्थान के वाद्यों में रावणहत्था का अपना विशेष स्थान है। यह वाद्य बहुत उपयोगी बनाया जा सकता है। अभी तक इस वाद्य में जितनी ताकत है, इसका पूरा–पूरा उपयोग नहीं हुआ है। इसकी बनावट इस प्रकार है– अच्छे बड़े नारियल पर बाँस लगाकर, नारियल को चमड़े से मंढ़ दिया जाता है। कसे हुए चमड़े पर सुपारी की लकड़ी की घोड़ी बिठाकर कुल नौ तार बिठाये जाते हैं। इन नौ तारों के लिए, बाँस में नौ छैद किये जाते हैं। इनके स्थान का चुनाव बहुत ही होशियारी से किया जाता है।

यह वाद्य घूंघरे वाले गज से बजाया जाता है। यह गज भी घोड़े की पूंछ के बालों से बना होता है। रावणहत्थे की विशेषता यह है कि इसका 'थट' का तार भी बालों का होता है। इन बालों वाले तार पर ही गज चलता है और गज के संघर्षण से स्वरों की उत्पत्ति होती है। थट के तार पर अलग-अलग जगहों पर बाँयें हाथ की अंगुलियाँ रखी जाती है जिससे सरगम निकलता है। अंगुलियों का हथेली की ओर से स्पर्श कराया जाता है। बाँये हाथ की हथेली की ओर से स्पर्श कराया जाता है। बाँयें हाथ की हथेली पर ही सारा बाजा भी टिका होता है। इसमें थट का तार मध्य सप्तक के 'सा' से मिला होता है और अंतिम ताँत का तार खरज के 'प' से मिला रहता है। अन्य सात तार 'स' से 'नि' तक मिले रहते हैं। इसका स्वर-संधान बहुत मीठा होता है।

रावणहत्थे का गज, सारंगी के गज जैसा नहीं होता है। इसका गज बालों की ओर से एकदम ढीला रहता है, जिसे दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाकर कड़ा बनाया जाता है। गज के अन्तिम छोर पर घूंघरे बंधे रहते हैं जो ताल का काम भी करते रहते हैं। आधे वाद्य का जिम्मा इन्हीं घूंघरों का है।

इन वाद्य को भील और भोपे मुख्यतया बजाते हैं। इस पर 'पड़े' और वीर पुरुषों की कहानियाँ गाई जाती हैं। राजस्थान के इस वाद्य में विकास की बहुत संभावनाएं हैं।

इकतारा

मंझले आकार के तूँबे पर एक बांस लगा हुआ होता है। इस बांस पर दो खूंटियां होती हैं और ऊपर नीचे दो तार रहते हैं। नीचे का तार पंचम (प) और ऊपर का तार षड्ज (सा) पर मिला होता है। 'सा' और 'प' का जोड़ा संगीत में सबसे इष्ट माना जाता है। 'सा' और 'प' की निरन्तर संहिति से यह वाद्य स्वरित का काम भी देता है; अर्थात् गायक को स्वर पर कायम रहने में मदद देता है। ऐतिहासिक रूप से इकतारा तमूरे का पूर्व रूप है। जहां तमूरे का उपयोग केवल स्वरित के लिए होता है, वहाँ इकतारे का उपयोग स्वरित और लय, दोनों के लिए होता है। इकतारे को बनाने के लिए उसे ठीक तूँबे के ऊपर से, बांस की जगह से, पकड़ा जाता है और अंगूठे के निकट वाली अंगुली से, नीचे की ओर से, तार पर आघात किया जाता है। इस आघात के क्रम में कहरवा, दादरा आदि तालों का भी समावेश कर लिया जाता है।

इकतारे का प्रयोग मुख्यतया भजन एवं बाणियों को गाने के लिए किया जाता है। इकतारे के साथ ज्यादातर मजीरों या करतालों का साथ रखा जाता है। गोसाँई, नाथपंथी स्वामी और कालबेलियों में इनका विशेष प्रचलन है।

तंदूरो, वीणो, चौतारो या निशान

इन चार नामों से एक ही प्रकार का वाद्य राजस्थान में प्रमाणित है। यह वाद्य, लोक गीतों का तानपुरा है। इसमें तानपुरे ही की भांति चार तार होते हैं। लेकिन इसको तानपुरे की भाँति खड़ी अंगुलियों से बांये से दांये नहीं बजाया जाता बल्कि एक झटके के साथ, पीछे की ओर से अर्थात् दांये से बांये और बजाया

जाता है। आघात की शक्ति के कारण इसमें इकतारे की तरह लय या ताल का भान हो जाता है। तानपुरे की भाँति इसके स्वरों का क्रम रहता है। तानपुरे में चार तार होते हैं, जिनमें पहला मंद्र पंचम [प] में चौथा मंद्र षड़ज [सा] में और बीच के दोनों तार मध्य षड़ज [स] में मिले रहते हैं। कभी-कभी [प] वाले तार को [म] मिलाकर मध्यम मेल का उपयोग किया जाता है। मध्यम मेल का उपयोग तभी किया जाता है, जब किसी राग विशेष में पंचम का निषेध हो। तंदूरे या चौतारें में ठीक इसका उलटा क्रम होता है, क्योंकि आघात बिल्कुल विपरीत दिशा की ओर से होता है, अथवा मंद्र पंचम पीछे की ओर से पहिला तार हो जाता है और मंद्र षड़ज चौथा और बीच के मध्य षड़ज [स] रहते हैं। यह वाद्य स्वरित और लय दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। आघात के लिए अंगुली में मिजराफ पहनी जाती है। तानपुरे में 'जवारी' के प्रयोग से, स्वरों की संहिति से 'गैण' बन जाती है, जबकि चौतारे में लय और स्वरित, दोनों में सहायता मिलती है।

चौतारों पर बलाई, दसनामी, बीसानामी और रामदेवजी के भक्त भजन गाया करते हैं।

बाँसुरी या बंशी

इसमें स्वरों के लिए छः छेद होते हैं और फूंक देने के लिए मुंह की ओर एक और छेद होता है। आसानी के लिए आजकल, मुँह में क्लारेंनेट या सीटी की तरह बजाने की बाँसुरियां भी प्रचलित है। स्वरों के छहों छेदों को दूरी के हिसाब से इस प्रकार बैठाया जाता है कि सही-सही पूरा सरगम बज सके। बाँसुरी में किसी भी स्वर को षड़ज मानकर बजाया जा सकता है। उसके आगे के स्वर अपने आप आवृत्तियों के रूप में व्यवस्थित हो जाते हैं। बांसुरी, बांस और पीतल या अन्य किसी भी धातु की हो सकती है; किन्तु बांस और पीतल की ही अच्छी समझी जाती है।

अलगोजा

यह दो बांसुरियों से मिलकर एक वाद्य बनता है। बांस की दोनों बंसरियों के मुंह, बजाने वाले के मुंह में रहते हैं, और वह दोनों में बराबर फूंक देता रहता है। दोनों बांसुरियों में चार-चार छेद होते हैं, जिनमें क्रम रूप से, 'सरगम' निकाला जा सकता है। अलगोजे की दोनों बांसुरियों में यों छः या सात छेद होते हैं लेकिन दूसरों को (काम में नहीं आने वाले छेदों को) मोम से बंद कर दिया जाता है।

सतारा

सतारा में -अलगोजे, बांसुरी और शहनाई-तीनों को समन्वित करने की कोशिश की गयी है। अलगोजे की भांति, दो बांसुरियां होती है, काफी लंबी। दोनों में छः छः छेद होते है; लेकिन एक बांसुरी में पांच स्वर मोम से बंद रखे जाते है और शहनाई की तरह केवल 'सा' ध्वनित होता रहता है। दूसरी बांसुरी पर पूरी गत, धुन या गीत चलता है। यह साज सिंध में विशेषत: बजाया जाता है। और वहीं से राजस्थान की सीमा पर आया है।

शहनाई

फूँक वाद्यों में श्रेष्ठ और सबसे मीठा वादन शहनाई का ही होता है। शहनाई को बजाने वाले हमेशा दो जने होते हैं। एक वादक, केवल 'षडज' बजाता है और दूसरा वादक, राग बजाता है। शहनाई के साथ, ताल वाद्य में नगारे की संगत की जाती है। शहनाई को खोलकर अलग-अलग भागों में भी बांटा जा सकता है। यह नकसासी वाद्य है। नकसासी अर्थात् बजाते समय मुँह में निरंतर स्वांस रहना चाहिए और स्वरों के लिए बहता जाना चाहिए। इसके लिए नाक से बराबर सांस लेना पड़ता है। इसे 'नकसासी' कहते हैं। शहनाई टाली लकड़ी या शीशम की बनाई जाती है। टाली लकड़ी अच्छी समझी जाती है।

टोटो

शहनाई ही की तरह सख्त होता है। लेकिन नकसासी नहीं। मुँह से टोटो को बार-बार हटाया जा सकता है। शहनाई में ऐसा नहीं हो सकता।

पूँगी

तूंबे को बीच में रखकर, ऊपर नीचे दोनों ओर बांस लगा दिये जाते हैं। ऊपर के एक बांस में फूँक देकर, नीचे के दो बांसों पर बने छेदों से स्वरों का क्रम बैठाया जाता है। पूँगी को बांसों से मिलाने के लिए मोम को काम में लिया जाता है। स्वरों की ठीक जगह को निकालने के लिए भी मोम ही काम में लेते हैं। पूँगी भी नकसासी होती है। मुँह में बहुत जोर से फूँक होने पर ही पूँगी बजाई जा सकती है। कालबेलिये, जोगी या सांप पकड़नें वाली जातियां ज्यादातर पूँगी बजाती है।

नड़

यह मशक की तरह का एक वाद्य होता है। इसे मुँह पर टेढ़ा रखकर बजाया जाता है। नड़ का प्रचलन जैसलमेर की ओर ही अधिक है।

बरगू और बाकिया

शादी विवाहों या त्यौंहार-उत्सवों के समय, सरगरें जाति के लोग, लंबे-लंबे पीतल या तांबे के ये साज काम में लेते है। इनका प्रयोजन केवल ध्वनि संचारण है। इससे उत्पन्न ध्वनि को पवित्र भी माना जाता है। 'तुड़ तुड़ का सा नाद प्रसारित होता है। इसके साथ ढोल बजाया जाता है।

शंख

पूजा पाठ के अवसर पर बजाया जाता है। केवल शुभ सूचक ध्वनि के रूप में प्रयोग किया जाता है।

सींगी

हिरण के सींग से बनता है। इसमें से केवल एक ही आवाज निकलती है। सींगी के भीख मांगने वाले फकीर, सांई आदि बजाते हैं।

ढोलक (या धौलक)

ढोलक का स्वरूप न मृदंग की तरह का होता है, न पखावज जैसा और न मणिपुरी के खोल जैसा होता हैं। ढोलक के दोनों पुड़े, लगभग समान व्यास के होते हैं। मृदंग में एक बड़ा व छोटा होता है। पखावज में छोटे-बड़े के अनुपात में मृदंग से भेद हो जाता है और खोल में दोनों पुड़े बराबर से ही होते हैं, लेकिन वह एकदम बहुत लम्बी और मुंह की ओर से एकदम छोटी सी होती है। ढोलक का चौड़ाई वाला आकार भी बड़ा होता है। राजस्थान के ताल-वाद्यों में, सबसे अधिक प्रचलन ढोलक का ही है। इस पर लगभग सभी प्रकार की तालें बजाई जाती है। ढोलक को बजाते समय, तबले या मृदंग की तरह पुड़े पर जमा कर हाथ नहीं रखा जाता बल्कि अंगुली की स्वतंत्र चटकारी दी जाती है।

ढोलकें आम या बड़ की लकड़ी से बनाई जाती है। इनपर अधिकतर बकरे-बकरी का चमड़ा मंढ़ा जाता है; लेकिन रावलों की धौलक में भैंस का चमड़ा काम में लिया जाता है। राजस्थान की भिन्न-भिन्न जातियों के गायकों ने, अपने-अपने प्रकार की धौलकें बनाई थी। इसी प्रकार नटियों की ढोलक साधारण ढसेलक से बड़ी होती है; लेकिन उसके नर भाग को हाथ से नहीं बजा कर लकड़ी से बजाया जाता है। हीजड़ों की ढोलक भी अलग प्रकार की होती है; लेकिन स्वरूप-विशेष में कोई अधिक फर्क नहीं है।

मादल

मादल की सकल-सूरत पखावज जैसी होती है; किन्तु यह मिट्टी की बनी हुई होती है। राजस्थान में मिट्टी का यह वाद्य, मेवाड़ के मोलेला गांव में बनता है। इसकी गूंज और इसका प्रभाव निराला ही होता है। पखावज की तरह इसमें भी आटा लगाया जाता है। अन्य वाद्यों पर तो काली स्याही होती है। इस पर भी लगभग सभी तालें बजाई जाती है।

मृदंग

कुछ बड़े गांवों में और रजवाड़ों की राजधानियों में मृदंग भी बजाई जाती है। ताल-वाद्यों में यह सबसे महत्त्वपूर्ण वाद्य है। कहते हैं कि तबला इसी का सरल रूप है। मृदंग के बजाने व तबला बजाने में बहुत फर्क है।

ढोल

यह साज अधिकतर नाच के साथ या स्वतंत्र रूप से बजाया जाता है। ढोल कितने ही प्रकार के होते हैं। हर जगह अपने किस्म का अलग ही ढोल होगा। यह काफी चौड़ा होता है। इसकी ध्वनि भी दूर तक जा सकती है। घोष भी बहुत गहरा और देर तक गूंजता रहता है। इसीलिए इसे सामूहिक नृत्यों और शादी-विवाह के उत्सवों पर काम में लिया जाता है। ढोल का समाजिक जीवन से बहुत गहरा सम्बन्ध है। विशेष अवसरों पर इसके घोष का जबरदस्त आनन्द उठाया जाता है। राजस्थान में बारह तरह के ढोल बजाये जाते हैं। उनमें से कुछ इस

प्रकार हैं -

[अ] एहड़ा का ढोल : दीवाली के दूसरे दिन, सारा गांव अपने बैलों की सेना के साथ इकट्ठा हो जाता है। बैलों की पूजा के बाद एक 'सिगनल' के साथ एहड़ा का ढोल गूंज उठता है। इस ढोल की गड़गड़ाहट इतनी तीव्र होती है कि बैल भड़क उठते हैं। वे भय से व्याकुल हो, बिखर जाते हैं। दूर-दूर से लोग उन्हें वापस एकत्र करते हैं। इस एहड़ा के ढोल के बोल बहुत ही शक्तिशाली होते हैं।

[ब] सेर का ढोल अर्थात् शहर में बजने वाले ढोल।

[स] माताजी और भैरव की पूजा के वक्त 'भाव' आता है- तब बजने वाला जोरी का ढोल।

[क] मटकी का ढोल।

[ख] ढमंका रो ढोल - जो आज साधारणतया हर घर में बजता है।

राजस्थान में ढोल बजाने का काम सरगरें, भील, भाँभी, ढोली करते हैं। मारवाड़ में ढोलों के बोलों को नाम देने का प्रयत्न किया है। इनके दो रूप सुनने को मिले हैं - चिरमी का बोल तथा गजरें का बोल।

ढोल का चमड़ा बकरी या बकरे का होता है। ढोल को कभी एक हाथ व एक लकड़ी और कभी-कभी दोनों लकड़ियों से बजाया जाता है।

नगाड़ा

यह वाद्य एक ओर से मँढ़ा हुआ होता है और इसमें भैंस का चमड़ा काम में लिया जाता है। नगाड़ा लकड़ी की चोट से बजाया जाता है। इसके बोल भी निश्चित नहीं हुए है। गति-पूर्ण ढंग से लय की अनुभूति देते हैं।

नौबत

शहनाई के साथ बजने वाले दो छोटे नगारे होते हैं। एक बड़ा और एक छोटा होता है। बड़ा नर व छोटा मादा होती है। इन दोनों को दो लकड़ियों से बजाया जाता है। इसके बोल भी बहुत विकसित है। इसमें सब तालों को बजाने का विधान है। शहनाई के साथ नौबत का भी खूब विकास हुआ है। इन नगारों को भैंस के चमड़े से मँढ़ा जाता है।

धूँसौ

नौबत के छोटे आकार के नगारों का विशाल रूप ही धूँसा कहलाता है : नर व मादा काफी बड़े होते हैं। लेकिन उसी अनुपात से छोटे व बड़े होते हैं। इनको भी लकड़ी से बजाया जाता है। इसे चोब कहते हैं।

भरतपुर में एक प्रकार के बहुत बड़े-बड़े नगारे होते है, जिन को छः-सात-आठ जने एक साथ दो-दो चोबों से बजाया करते हैं। इन नगारों का प्रयोजन युद्ध-भूमि में प्रेरणा देने के लिए होता था। इनका घोष और बोल का चलन, बहुत ही

आवाज भी बहुत तीव्र होती है।

मटकी

मटकी को खाली हाथ व हाथ में कंकर लेकर चटकारि से भी बजाया जाता है और कहीं-कहीं इसे बकरे के चमड़े से एक ओर मंढ़ कर भी बजाते हैं। कुछ लोग मटकी के मुंह पर ही थाप देकर काम निकाल लेते हैं। इसे राजस्थान में माट, माटो, चाडो आदि भी कहते हैं। यह सर्व-सुलभ ताल-वाद्य है।

डमरू

मदारियों के पास देखा जा सकता है। एक हाथ में छोटे से आकार का यह डमरू, दोनों ओर से मंढा होता है और बीच के पतले हिस्से पर दो डोरियां बंधी रहती हैं, जिनके किनारों पर मोम की छोटी गोलियां रहती हैं। बीच से पकड़ कर, हाथ के आधे हिलाने से वे मोम की गोलियां चमड़े पर पड़ती हैं और उनसे ध्वनि निसृत होती है। इसमें एक गति का ही क्रम अथवा लय की अनुभूति होती है। डमरू भी दो-तीन प्रकार के होते हैं।

आधे साज

ताल देने के लिए, एक ही प्रकार की आवृत्ति से बजने वाले वाद्यों को 'आधा साज' माना जाता है। क्योंकि 'ताल' देने की क्षमता तो इनमें है, लेकिन 'स्वर' देने की शक्ति नहीं है। फिरभी अपने आप में ये मधुर होते हैं। इसमें हम मुख्यतया मजीरों, तासला और झांझ को ले सकते हैं। ये तीनों मजीरों के ही बड़े मंझले और बिचले स्वरूप के नाम हैं। ये तीनों प्रकार के 'मजीरे' कांसी व पीतल के मिश्रण से बनते हैं। डूंगरपुर में भी मजीरों को बजाने की एक विशेष पद्धति चालू है। इसे लोग तेराताली कहते हैं। सिर से पांव तक, स्थान-स्थान पर मजीरें बंधे रहते हैं और भजन गाते समय, क्रम से उन पर हाथ वाले मजीरें से आघात किया जाता है। विभिन्न मजीरों के इस क्रम के कारण, दो मजीरों की आवाज से यह भिन्न प्रभाव देते हैं।

कांसी की थाली और कांसी की तासक भी होती है। इन आधे वाद्यों का महत्त्व बहुत देर तक गूंजती रहने वाली झनकार है। यह मन्दिरों में आरती के समय विशेष तौर पर काम में ली जाती है।

मन्दिरों में विभिन्न प्रकार की आवाजों को एकत्रित करने के लिए घंटा, झालर, टकोरो, वीर घंट, घडियाल आदि भी प्रयोग किए जाते हैं।

इन्हीं वाद्यों में, घूघरों के प्रकारों को भी ले लेना चाहिये। कांसी और पीतल के मिश्रण से अच्छे घूघरे बनते हैं। छोटे-छोटे आकार के घूघरों को रमजोल कहते हैं। नाच में अधिकतर रमजोलें स्त्रियां पहनती हैं। भोपे साधु अपनी कमर में बहुत बड़े-बड़े आकार के घूघरे भी पहिनते हैं। इनका काम केवल 'आवाज' देना भर होता है। ये सूचना देने के काम में आते हैं।

इनके अलावा, आजकल, लकड़ियों के दो छोटे टुकड़ों को हाथ में लेकर भी

ताल देते हुए देख सकते हैं। रेलगाड़ी में भीख मांगने वाले बच्चों के हाथ में यह देखा जा सकता है। इनसे उत्पन्न बोल भी काफी अच्छे होते हैं। इसी प्रकार बहुत से साधु गाने के साथ चींपये का उपयोग भी लेते हैं।

राजस्थान के मुख्य वाद्यों का वर्णन ऊपर लिखा है, लेकिन अभी बहुत से वाद्य छूट गये हैं, और बहुतों के स्वरूप पर, विस्तार से नहीं लिखा जा सका। क्योंकि अभी तक इन वाद्यों का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन ही नहीं किया गया है। लोक गीतों की ही भांति, अभी इन वाद्यों का भी वैज्ञानिक सर्वेक्षण होना शेष है। किन्तु जो कुछ प्राप्त हो सका है, उससे राजस्थानी लोक-वाद्यों के वैभव और दिव्यता का एक अंश तो मिल ही जाता है। इन वाद्यों के नामों को देखकर, सबको अवश्य ही यह अनुमान होगा कि वस्तुतः हम अपने जीवन से संगीत को जितना दूर समझते हैं, उतना वास्तव में है नहीं।

जलाशय संबंधी लोकगीत

जलाशय संबंधी लोकगीतों के अनेक प्रकार है, और ये प्रकार विषय और सामग्री पर आधारित हैं। इन लोकगीतों में एक ओर कन्या और नववधू के मनोभाव निरूपित होता है तो कहीं-कहीं ब्याहता स्त्री के जीवन की व्यथा एवं करुणता भी। ऐसे भी गीत हैं, जिनमें स्त्री जीवन की कहण एक वैयक्तिक सांसारिक घटना निरूपित होती है। लोकगीतों की विषय-वस्तु और सामग्री के आधार पर निम्नलिखित पांच प्रकार के जलाशय संबंधी लोकगीत मिलते हैं। जो भी लोकगीत उपलब्ध हुए हैं और जो जलाशय से संबद्ध है उन गीतों को हम इन पांच प्रकारों में से केवल एक या दो प्रकार में समाविष्ट कर सकते हैं। गुजराती लोकसाहित्य की करीब पांच हजार जितनी संपादित लोकरचनाओं का मैंने कृष्णकथा, रामकथा और पांडव कथा, कथा गीत लोककथा, जीवनचक्र संलग्न रचनाओं और ऋतु संलग्न रचनाओं के मुख्य छः ग्रन्थों में अभ्यास निबंध के साथ विषयानुसार संपादित किये हैं। इनमें स्त्रीजीवन से संबंधित लोकगीतों की संख्या बडी है और ऋतुचक्र संलग्न गीतों की ही संख्या १९३१ की है इन में संस्कारगीत, गरबा, लोरी, दाम्पत्यजीवन और ससुराल निवास के सुखदुःख, रास आदि विषयानुसारी उपविभाग हैं, संस्कारगीत में सीमन्त, नामकरण, उपवित, विवाह, लग्न, गौना और अंतिमसंस्कार के मरशिया-राजिया आदि उपविषय विभाग हैं। विवाहविधि में भी कंकोतरी, गणेशपूजन, गोत्रज, ग्रहशांति, पीठी, मिंढलबंधन, मंडपारोपण, गार, वडी, माटीपूजन, प्रभातिया, सांजी, फूलेकु, पास, उकरडी, वरयान, सामैयु, अलवु-चलवु, तोरण, मायर, चोरी, कलवो, तेलसिंचन, पूरत, मामाटलु, कुमकुम-थापा, कन्याविदाय, परपोखणूं, कोडीकैडो, मिंढण और छोडाछेडी, गोत्रजप्रवेश, दशैयुं, गौना-पहेला गौना, सीभ्रन्त आदि 30 से भी विशेष संख्या के विधि और विधि और विधिसंबंध लोकगीत है, संसार और ससुराल वासी जो गीत हैं इसे उनमें सासु,ननद, देवर, अन्य संबंधों के बारे में तथा उपपत्नी (शौक्य), पति का चाकरी के लिये प्रयाण, आभूषण ऐषणा, कोई स्त्री के ब्याहता जीवन की कोई करुण घटना पर आधारित, जैसे उपविभाग में जीवन और ऋतुचक्र के लोकगीतों को पुनःसंपादित किये हैं, इससे, लोकगीतों के प्रकार के साथ-साथ हमारे सामान्य जनजीवन में स्त्रीजीवन के सुख-दुःख का, उनकी अपेक्षा और इच्छाओं का, सामाजिक स्थिति और उत्तरदायित्व का वास्तविक चित्र मिलता है।

लोकगीतों का एक प्रकार है, जलाशय संबंधी लोकगीतों का, कुआं, बावड़ी, तालाब आदि जलस्त्रोत। गतकालीन युग की और कहीं-कहीं आज के भी ग्रामप्रदेश में मन की बात को प्रगट करने का स्थान है, यहां स्त्री को अन्य सखी के साथ अपने संसार के सुख-दुःख की बात करने का मौका मिलता है, घर में

तो सास–ननद रहती हैं और ब्याहता स्त्री को मन की बात कहने का मौका ही नहीं मिलता है। विज्ञान का नियम है पानी अपनी मूल ऊंचाई प्राप्त कर लेता है। जितनी ऊँचाई से गिरे, उतना ऊंचा चढ़ता है। कार्यशक्ति का, (एनर्जी का) नियम है कि एक बार पैदा होने पर स्वरूपान्तर होगा, नाश नहीं। इसी तरह जब कोई व्यक्ति भय, लज्जा या अन्य परिस्थिति में अपनी साहसिक उत्कट और अतिशय लगाव को अभिव्यक्त नहीं कर सकता, तब यह स्वरूपान्तर करके कोई व्यवहार, कथन, और गीत द्वारा प्रकट करता है, कुलवधू पर ही कुटुंब का उत्तरदायित्व रहता है और विशेष अपेक्षा की जाती है। कर्त्तव्यबोध, परंपरा प्राप्त, न्यूनाधिक सुख–दु:ख, मान–अपमान, अपयश, गृहकार्य का पशुश्रम, अवहेलना, अपमान, सासु, ननद, जेठानी इत्यादि के ताने–बाने, अत्याचार, आशंका, भय, लज्जा, परंपरा के कारण ब्याहता सहन कर लेती है परन्तु इनके सामने मन में जो आक्रोश और विरोध–विद्रोह होता है वे तो कार्यशक्ति की तरह ही नाश नहीं होते, पर स्वरूपान्तरित होते हैं। समय के साथ वधू परिस्थिति के साथ समझौता, एडजस्टमेन्ट कर लेगी, आवेश, आवेग, उग्रता पर काबु पा लेती और जो भी अत्याचार, अपमान, उपेक्षा, अन्याय होंगे वे सब सहन करती रहेगी, परन्तु बंध रखने से या मनोगत के तत्काल अंकुश में रखकर कोई भी तत्काल प्रतिक्रिया नहीं करने से मन में जो विरोध खड़ा हुआ हो, संवेदना जागी और मन:क्षोभ जन्मा वह मिटता नहीं, यह मन:स्थिति ही लोकगीतों में प्रकट होती है। हम हमारे भारतीय समाज की स्त्रियों की समर्पित भावना और सेवा परायण तत्परता और सहनशीलता का गर्व लेते है, लेकिन, क्या एक व्यक्ति के रूप में, नारी भी इस परिस्थिति के सहमत हैं? संतुष्ट है? 'कर्त्तव्य कृतम' के संतोष का अनुभव करती है? – इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये भी लोक–गीतों का ही एक मात्र स्वीकार्य आधार है। लोकगीत ही स्त्रियों के सहज नाड़ी का, नब्ज़ की धड़कन सुनाती है। इन सांसारिक परिस्थिति और विषमता के सामने लोकगीतों में आवाज उठाती भी हैं – हास्य से, कटाक्ष से, कभी–कभी खुले विरोध से, सौत, सासु–ससुर, जेठ, जेठानी, ननद आदि के संबंधित गीत देखें तो जो दु:ख दर्द और विद्रोह है, वह कितना व्यापक और उग्र है, इसे प्रतीत करेंगे। पति–भाई और देवर के संदर्भ देखो तो नारी के सहज मनोभाव के साथ सुख–संतोष और तृप्ति का अनुभव करेंगे। हमने कुटुम्ब परायण सहनशीलता के मूल्य का कही–कहीं तो जोरजुल्म के रूप में आरोपण किया। कृषि प्रधान, पशुपालन व्यवसाय और संस्कृति में नारी का ही विशेष शोषण हुआ – परंपरा, धर्म, कर्तव्य और भावना आदर्श के नाम पर हम भूल जाते है कि तत्त्वत: लग्न और एकनिष्ठ यौनसंबंध भी प्राकृतिक नहीं, सांस्कृतिक और आगन्तुक है, ऐसे नर–मादा और बच्चों को छोड़ कर जो परिवार है इनके प्रति समान रूप वृत्ति व्यवहार भी प्राकृतिक नहीं, सांस्कृतिक और आगन्तुक ही हैं। दाम्पत्य और कुटुंब मानवजाति के विकास और संरक्षण की अनिवार्यता है और जो सामाजिक स्थिरता मिली, आर्थिक अनुकूलता मिली और जीवन की जो एक निश्चित भाव जन्मा, पेटर्न पैदा हुआ

इसमें कुटुंब, गोत्र, जाति ज्ञाति, गोल आदि का अद्‌भुत योगदान रहा हैं। और मानव समाज आज की सुरक्षित और सुविधापूर्ण जिन्दगी प्राप्त कर सका। परंतु इस प्रक्रिया में भारत में ही नहीं, सभ्य समाज में नारी पर ही कर्त्तव्य का विशेष बोझ रहा। नर और नारी दोनों के कन्धों पर घूंसरी का बौज आया लेकिन स्त्री पर विशेष और नीति, धर्म, परंपरा और सामाजिक दृष्टि से यौन संबंध के चुस्त नियंत्रण भी विशेषतम नारी पर रहें। इसका कारण रक्त की शुद्धि के सिद्धान्त में है। प्रत्येक सभ्य जाति ने वंशशुद्धि पर जोर दिया। पुरुष की शिथिलता से कुल, वंश या गोत्र पर कोई असर नहीं पड़ता, परन्तु जो स्त्री शिथिल बने तो वंश भी भ्रष्ट होता है। इसी कारण स्त्री के सतीत्व और शीलरक्षा स्त्री जीवन का उत्तम आदर्श ही न रहते हुए पुरुषमन का आग्रह बन गया। ऐसा आग्रह और अपेक्षा कि अगर स्त्री की कोई भूल कर तो उसे माफ किया ही न जा सके। इस कारण से भी कहीं स्त्री को विशेष रूप से सहना पड़ता है, और इसका निर्देश भी जलाशय संबंधी लोकगीतों में मिलेगा।

जलाशय स्त्री का हृदयद्वार है। यहाँ स्त्री अपना मन खोलती है। एक लोकगीत है। 'सोजनमां उतर्य सोजनीउं।'

सोजनमां उतर्युं सोजनियुं, हमे शाने बाने जई लैशु ?
कांखमां लेशुं बेइलां, पाणीने बहाने जई लैशुं
जाई लेशु रे, मन मोही लैशु, होई दलडानी वातो कर लैशुं सोजनमां
कांखमां लेशुं टोपली, साणाने बहाने जई लैशुं
जाई लेशुं रे, मन मोही लैशुं, द्वाई दलडानी वातो कर लैशु सौजनमां
कांखे लेशुं लूगडां, धोवाने बहाने जई लैशुं
जाई लेशुं रे मन मांही लैशुं दाई दलडानी वातो कर लैशुं, सोजनमां

साजन महाजन आयें हैं तो दिल की बात करने के लिये कौनसा बहाना बना कर हम बाहर जायेंगे? कमर पर गगरी रखकर पानी भरने के बहाने हम जायेंगे, मन मोह लेंगे और हो दिल की बात कर लेंगे। कमर पर टोकरी लटकाकर गोबर लेने का बहाना बता कर हम जायेंगे, मन मोह लेंगे और दिल की दो बात कर लेंगे।

मन की बात को प्रगट करने का मुख्य स्थल जलाशय है और उनके वर्ग में :

(१) सोना इंढोनी रूपा बेडलुं : मनोरथ, कार्य का आनंद

(२) बेडा मारां नंदवाणां : दाम्पत्य माधुर्य/व्यथा

(३) पांगेते सिंचणूयुं : पशुश्रम और त्रास

(४) वहुअे वगोव्यां खोरड़ां

ससुराल की बदलोई : शंका, ताना

(५) पनिहारी और साधु : नवसंपर्क के परिणाम

(६) पनिहारी और मोर : पूर्वप्रेम, शंका और कारुण्य

"सोना एंढोणी : श्यला बेडुं" वर्ग के जो गीत हैं इनमें स्त्री के मुग्ध मनोभाव का

आलेखन मिलता है। इस प्रकार के लोकगीतों में नायिका अपने रसिया बालम से सोने का घड़ा। गगरी और रूपा की ईंडूरी / वाड़ा लाने के लिये कहती है। यह समृद्धिसूचक है। कुटुंब के लिये पानी भरने जाना वेठरूप या आपत्ति रूप नहीं लगता। कन्या उत्सुक रहती है वधू बनकर घूंघट निकाल के पानी भरने के लिये। गुजरात में नर्मदा, तापी नदी को छोड़कर मही सागर, साबर शेत्रुँजी, मच्छु आदि नदियाँ हैं केवल वर्षाकाल में ही पानी से भरी रहती है, भोगावो, फलकू जैसी असंख्या छोटी छोटी वर्षाकालीन नदियाँ हैं, और सीता को कांटा लगने से अथवा अन्य कोई सती के शाप के कारण इनमें बारहमास पानी नहीं बहता, ऐसी कथाएँ जुड़ी हुई हैं, सौराष्ट्र की शेत्रूंजी, मुच्छु, कालुभार, भादर, गोमती के साथ कई कथाएँ जुड़ी हुई हैं। मही और सागर के विवाह की रोचक प्रेमकथा है और नदी का नाम ही पूरा महीसागर प्रचलित हैं। आषाढ़-श्रावण के महिने में कन्याओं और ब्याहताओं का व्रत जो हैं इनमें नदीस्नान का धार्मिक माहात्म्य है। प्रथम बाढ़ आने पर नदी स्यावडी मानी जातीं हैं और अछूत-अपवित्र है स्नानार्थ। बाद में पवित्र बनती है। गुजरात में पुष्कर और नखी जैसे कुदती सरोवर भी नहीं। नलसरोवर खारे पानी है। प्रत्येक छोटी नदी में कुंड, छोटा कुँवा होता है और नदी में पानी न हो तब कुंडस्नान पवित्र माना जाता है। जूनागढ़ के गिरनार पर्वत के पास दामोदर कुंड है जहां शिवरात के दिन नागाबावा की जमात पवित्र स्नान करती है। बांडिया बोली त्रिनेत्र महादेव का पवित्र कुंड है और भादों में तरणेतर का लोकमेला लगता है। मुख्य आधार तो गाँव के तालाब और कुएँ का रहता हैं। बावड़ी के निर्माण के साथ नरबलि की कथा जुड़ी हुई है। अड़ालज की बाव अद्‌भुत शिल्पयुक्त बाव है।

लेकिन आम लोकवर्ग के लिये मुख्य जल प्राप्ति स्त्रोत तो गाँव का कुआँ या बावड़ी ही रहा। पीने के लिए पानी भरने जाना, नारी जीवन की दैनंदिनी का मुख्य कार्य है और इसके साथ गागर, रस्सी कुआँ जुड़ा हुआ है और यही पदार्थों का प्रतिकात्मक विनियोग गुजरात के जलाशय संबंधी लोकगीतों में हुआ हैं, जिसका सविस्तार जिक्र मैंने अगले लेख में किया है।

इस समूह के जो लोकगीत हैं उनमें मुग्धता और आनंद अभिव्यक्त होते है। कन्या के विवाहोत्सुक मुग्ध मनोभाव भी इस वर्ग के लोकगीतों में मिलेंगे। पत्नी विदेशगमन करते पति के पास से जैसे उत्तम वस्त्र और आभूषण मांगती है। वैसे इन गीतों में बेठुं यानि घड़ा और गागर की जोड : घडो अने बेडु मंगावी है।

जलाशय प्रथम मिलन और अनुरागजन्म का भी स्थान है। यहाँ स्त्री किसी अन्य पुरुष को मिल सकती है। "कथासरित्सागर" में और भारतीय लोककथाओं में, असंख्य कथाओं नायक-नायिका का प्रथम मिलन जलाशय पर होता है। कृष्णकथा में भी कालीयमर्दन, वस्त्राहरण और रास के साथ जलाशय संलग्न है, अभिन्न रूप से। लयात्मक मुखड़ा अलग होते हैं इस समूह के गीतों में, गीत की सामग्री और निरूपण एकसा रहता है। कहीं मुग्धकर चित्र अंकित होता है :

(२)

सोना बेडुं ने रूपा इंढोणी लई हुं तो सरोवर पाणी गई ती रे लोल
में तो बेडुं मेल्युं सरोवर पाले ने ईंढोली आंबा डाले रे लोल हूं तो
हुं तो झटपट फूल लेवा वाडीए सिधावी, चंपानां फूल वीणी लायी रे लो
फूलड़ा लई हुं घेर ज आवी, तेनी बनावी फूल माला रे लाल हुं तो
फूनी माला में वीरने पहेरावी, वीरो बन्यो उल्लासी रे लोल : सोनानं बेटुं

– सोने की गगरी और चांदी की ईंढोणी ले कर मैं सरवर पानी भरने चली, गगरी को सरोवर की पाल पर और ईढोली आंबा डाल पर रखी। मैं झटपट फूल चूगने बाग में गई और चंपा के फूल चून कर मैंने माला बनाई और मेर वीरजी को पहनाई। माला पहन कर मेरा भाई उल्लसित बना।

पानी भरते भरते मिट्टी की बनी गगरी का फूटना स्वाभाविक है।

कभी नीचे गिरने से तो कभी टकराने से गागर फूटती है और ऐसे फूटे हुए, नंदवाये बेड के साथ ससुराल जाना समस्या पैदा करता है।

(३)

आछां आछां रे बेनी मकरां ओढणां रे,
पाणीडां गई' ती तलाव के बेडुं मारं नंदवाणुं रे।
कूवा कांठे रे कालमींढ कांकरी रे, मने वलतां वागी ठेस के बेहुं मारं
चौंटे बेठा रे, के बेनी मारा सासरा रे, केम करी घेर हुं जईश के बेहुं मारु
आघो ताणीश रे, के बेनी मारो घूमटो रे, घुंघट ताणीने घेर जईश के बेहुं मारु
उमरा वच्चे रे, के बेनी मारा सासुजी, केम करी घरमां जईश? बेहुं मारु
पाये पडीने रे, के वली वली विनवी रे, कांई सासुने घरमां जईश बेहुं मारु
सासुओ पूछ्युं रे के परण्ये सांभण्युं रे, गुस्सो गयो आसमान बेडुं मारुं
घर पछवाडे रे, के बेनी लीली लीमडी रे, सोटा वाट्या पार बेडुं मारुं
पहेलो सोटो रे, के बेनी मने समसम्यो रे, सांभण्या मा ने बाप बेडुं मारुं
बीजो सोटो रे, के सनी मने समसम्यो रे, सांभण्यां भाई ने भोजाई बेडुं मारुं
त्रीजो सोटो रे, के बेनी मने समसम्यो रे, सांभण्यो सैयरु नो साथ बेडुं मारुं
चोथो सोटो रे, के बेनी मने समसभ्यो रे, जीवडो गये आकाश बेडुं मारुं

अगले लेख में हम देख चुके है कि यहाँ में प्रताड़ना है यह केवल हास्य–कटाक्ष के लिये ही है। लोकवृंद में जब रास लेते–लेते ताली के साथ गाया जाता है तब पहले, दूसरे, तीसरे डंडे की मार के साथ गति बढ़ती है और चेहरे पर हास्य–मजाक की चमक़ रहती है, और अंतिम डंडे की मार से मृत्यु होय गया ऐसा जो अंत है, वह करुण नहीं बनतां, हास्यमजाक का ही विभाव बनेगा, क्योंकि "सोबे" की लक्षणा काम करती है, दोष में आने पर भी पति का क्रोध और भूल का दंड मुग्धावस्था ही पत्नी के लिये सह्य नहीं आनंदप्रद होना संभवित है।

गीतों में डंडे के टूटने का कारण अलग–अलग होता है :

पाणी ग्यो तां रे, बेनी मारी, तलावनां रे,

पालेथी लपस्यो पग, बेड़ा मारां नंदवाणां रे।

अथवा जाति, ज्ञाति, प्रदेश के परिवर्तन के साथ बोली भी परिवर्तित होगी। जैसे :

काली रे माटी लाल चंकणी, लहस्यो ने मारो पोग, बेडुं रे मारुं नंदवासे

तालाब के किनारे मिट्टी चिकनी होने से पांव फिसल गया और गगरी फूट गई। यह एक ही घटना है। चिकनी मिट्टी में पाँव फिसलने की बात आती है तो विशिष्ट लक्षणा के आरोपण से शृंगारमूलक अन्य अर्थ भी निकलता है। और कोई लोकगीत में गगरी टूटने की घटना के आधार से सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया वर्णित होती है और जो स्वभाव का भेद है उसे लाक्षणिक और कलात्मक रूप से प्रकट किया जाता है :

(४)

मारी सोना इंढोणी रूपा हेल्य, हीरनुं सींचणियुं रे।
पाणीडां गई'सी झीलणियां तलाव, जातां काने जाणी रे।
काना, कांकरड़ी मत नांख, नंदवाशे मारां बेडलां रे
मारो ससरो चोरानो चोवटियो रे, चारे चोवट करशे रे
मारी सासुडी जनमती जूठी, जनम जूठा बोलशे रे
मारे जेठ आषाढीला मेघ, झीणां झीणां वरसशे रे।
मारी जेठाणी आभ मांयली वीजली, छअे दश चमके रे।
मारो देर दरिया मांयलो देडको, डरां डरां करशे रे
मारी देराणी मारेली जोड, जोडे जल भरशे रे
मारी नणदल कटकनी छोड़ी, चडयां कटे वालशे रे
मारे नणदोई वाडीमांयलो वशंदरो, वाडीनां फल वेडशे रे।

मैं झीलणिया तालाब का पानी भरने चली तो कान्हा मुझे देख गया। मैंने कहा : "कान्हा कंकरी मत मारो। मेरी गगरी फूट जायेगी। मेरे ससुर तो सबकी चर्चा करने वाले चोवटिया चर्चा खोर पंच है और गांव के चौटे पर बैठा हुवा पंचायत करता है वह जानबूझकर हमारी बातों की चर्चा करेगा। ममेरे जेठ आषाढ़ के मेघ के जैसे हैं, लेकिन मेघ भी जैसे सावन में धीरे-धीरे बरसता हैं वैसे धीमी आवाज में, उग्र हुए बिना, कुछ कहेगा, कुछ चर्चा करेगा, जिठानी मेरी बिजली जैसी है, चमकेगी और चार दिशाओं के साथ ऊपर और नीचे मिलकर छ दिशाओं में हमारी जात प्रकाश में लायेगी, मेरा देवर तो मेंढक जैसा है और ड्राउं-ड्राउं करके हमारी बात, हमारा संबंध प्रगट कर देगा। देवरानी तो मेरी सखी है, जो साथ देगी मुझे पानी भरने में मेरी ननद तो कटक की घोड़ी जैसी है, जो कोई भी वैर या जात का उधार नहीं रखती, मुझ पर उसे क्रोध है, बैर है, सबको हमारे गुप्त संबंध की बात जताकर वह अपना पुराना बैर लेगी। और मेरी ननद का पति को बाग के बंदर जैसा है और बंदर की तो प्रकृति ही है नये कच्चे-पक्के फल को वृक्ष से उजाड़ना?"

अत्यंत सौष्ठव युक्त - कलात्मक लोकगीत है। ऐसे सुदृढ़ आकृतिबद्ध लोकगीत लोकसंपदा की उत्तम राशि है। यहां संदर्भ कृष्णकथा का ही है और अन्य की

ब्याहता गोपी या राधा इस लोकगीत की नायिका है। लेकिन यहाँ ससुराल में रहती वधू की ससुराल के विविध संबंधित व्यक्तियों के बारे में जो विभावना है और सासु, ससुर, जेठ, जेठानी, देवर, देवरानी, ननद, ननदोई आदि की स्वाभाविक वैचित्र्य और लाक्षणिकता है इसका मार्मिक चित्र मिलता है। और अंतिम पंक्ति तो तब पूरी समझ में आती है, जब और जो, हम ध्यान में रखें कि लिखित और मौखिक परंपरा में नवयौवना की देह को फलती-फूलती बाडी का रूपक दिया जाता है और नवागत यौवन का स्तन-विकास फल के रूपक द्वारा निरूपित होता है। 'संदेवंत-सावलिंगा' में सावलिंगा सावलिंगा को कहती है :

काची कलियुं म त्रोड। काचा आंबा ते मारा शामना।

अर्थात् 'हे प्रेमी! मेरे विकसित नवयुवा देह को तुम भोगलोलुप दृष्टि से देखते हो लेकिन ध्यान में रखो, अभी तो मैं बालिका हूँ किशोरी हूँ। कच्ची कली, और आम्रवृक्ष के जैसे मेरी देह पर फलस्वरूप जो स्तन है वे मेरे भविष्य के पति, मेरे श्याम के है।

यहीं ननदोई के प्रति निर्देश है, जो व्यंजित है -

मेरी गुप्त बात जान कर मेरे देहावयव को भोग लोलुप दृष्टि से देखने वाला, मुझे दबाकर अपनी वासना तृप्त करने का प्रयास करेगा।

'बेडुं मारुं नंदवासुं' का एक लाक्षणिक अर्थ नीति की रेखा का उल्लंघन भी हैं।

'पालेथी लपस्यो पग' यानि 'तालाब के पाल की चिकनी माटी में फिसलता पैर भी मर्यादालोप को व्यंजित करता है। जो भी लोकगीत हैं इनमें, इसमें दो भिन्न प्रकार या भिन्न उपविभाग है। पहले प्रकार में गगरी फूटने का अभिधामूलक अर्थ है और इन में एक और नवकुलवधू के संसारजीवन के आरंभ का चित्रण है। कन्याकाल में जिसने जिम्मेवारी के साथ गृहकार्य नहीं किया है, उसे प्रारंभ में जैसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और परिणाम को भुगतना पड़ता है, इस स्थिति का चित्रण है और इस में एक प्रकार की सहजता "लाईटनेस" मजाक और माधुर्य है। दूसरा जो अर्थ है उसमें पूर्वराग भी है और कहीं नव संपर्कजन्य अन्य काम बनने की संभावना भी है जिसे आगे देखेंगे।

जलाशय के किनारे वधू को मायके का कोई परिचित व्यक्ति मिले और औपचारिक बातचीत करे तो बात का बतंगड हो जाता है और शंकाग्रस्त और तनावभरी जिन्दगी से छूटने के लिये वधू को आत्महत्या भी करनी पड़ती है इस तरह की घटित किसी घटना के आधार पर "वहुए वगोव्यां मोटां खोरडां' जैसी करुणान्तिका बनती है :

गाममां सासरियुं ने गाममां पियरियुं, दीकरी कहेजो सुख दु:खनी वात जो
कवला सासरियामां जीववुं रे लोल

सुखना वारा तो माता वही गया, दु:खनां उग्यां छे जीणां झाड जो कवला

पछवाडे उभी नणंदी सांभले रे लोल, वहु करे छे आपणां धरनी वात जो वहुए
वगोव्यां मोटां खोरडां रे लोल!

नणंदीए सासुने संभलाविये रे, वहु करे छे आपणां धरी वात जो वहुए वगोव्यां मौटा खारडां रे लोल!

सासुए लई जेठने संभलाव्युं रे लोल, वहु करे छे आपणां धरनी वात जो, वहुए जेठे जई परण्याने संभलावियुं लोल,

त्यांथी रावत घोडो खडियो रे लोल, जई पहोंच्यो नगर मोजार जो, हाटे हाटे ते घोडा खेडियो रे लोल, मल्यो छे कंई सोनल खार जो – वहुए

त्यांथी रावत घोडो खेडियो रे लोल आवी पोंच्या पोताने घेर जो– वहुऐ

वाटी घूंटीने भर्या वाटका रे, लोल, पीओ छो के वाटुं तमाररूं नाक जो– वहुए अवलां फरी गोरी पी गयां रे लोल, ओरडासां ताणीने लांबी सोड जो – वहुए।

गांव में ही मायका और ससुराल था। माता ने एक दिन पुत्री से सुख–दु:ख की बातें पूछीं। पुत्री ने कहा : 'सुख के दिन गये, अब तो दु:ख के झाड (वृक्ष) उगे हैं जीवन में और कवले (कुत्सित) सासरे में जी रही हूँ।' यह बात ननद सुन गई। उसने अपनी माता से कहा कि भाभी हमारे बड़े घराने की बुराई करती है। माता ने यह बात बहु के जेठ से, अपने बड़े बेटे से कहीं। उसने अपने छोटे भाई से कहा, 'तेरी बहू हमारे घर की बुराई करती है। पति ने पत्नी से कहा: 'अब हम यहां जिन्दा नहीं रह सकते। तुम्हें या मुझे मर जाना चाहिये' पत्नी ने कहा: 'आप क्यों मरें? मैं मरूंगी।' पति ने अर्ध सेर अफीम घोल कर दिया और इसमें पावसेर सुमलखार (सोमल=झेर) मिलाया और कहा: 'गोरी तुम पीओ, वर्ना मैं पीकर मर जाऊंगा' पत्नी ने जहर का कटोरा ले लिया। स्पष्ट है कि यह दु:खद सामाजिक घटना पर किसी अज्ञात लोककवि की प्रसिद्ध रचना है। ऐसी कोई सामाजिक घटना बनने पर और युद्ध, आंधी महामारी जैसी आपत्ति आने पर कथासंदर्भ वाले कथागीत की, रचना होती थी और भरथरी या अन्य ऐसे परंपरागत कलाकार के माध्यम से ऐसी करूण लोकगीत की रचना परंपरा में आती थी। ऐसी घटना पर आधारित कथाओं और विशेष रूप से करुण होती थी और ऐसे लोक गीत ही लोकदृष्टि को खोलने के, आत्मदर्शन और व्यवहार सुधार के निमित्त बनते थे।

गुर्जरी और मुस्लिम बादशाह की घटना नारीशक्ति की द्योतक है और वर्षों तक गुजरात–राजस्थान में गूर्जरी की कथा पर आधारित गीत, संवादगीत, रास और लोकनाट्यों ने प्रेरणा के अमृत का पान कराया। मुस्लिम बादशाह के उपस्थित होने के कारण सुंदर और जवान स्त्रीयों पर बाहर जाने की पाबंदी लगाई गई थी, परन्तु गुर्जरी अत्यंत तेजस्वी और स्वाभिमानी थी। किसने पाबंदी का विरोध किया। 'हम खुद समर्थ हैं, दृढ़ हैं, तो बादशाह से डर कर, छिपकर रहने की क्या जरूरत?' गुर्जरी दूध बेचने गई। कामांध बादशाह ने उसे बंदी बनाया। अनेक प्रलोभन दिये परन्तु गूर्जरी न मानी और सतीत्व में अटल रही। इस कथावस्तु के आधार पर गुजराती भाषा में अनेक रचनाएँ हैं। इस घटना पर आधारित जलाशय संबंधी लोकगीत भी है।

सोना इंढोली रूपी बेढलुं , मीठा पाणीडां जाय गुर्जरी।

चोरे बेठेल तेनो सासरो वा रे, मीठा पाणीडां जाय गुर्जरी।
तमारा वार्या नहीं वलुं, मारे जई जोवी बजार गुर्जरी।'
माचीए बेठेल सासु वारे, मीठां पाणी न जाव गुर्जरी!
बागशाही बादशाह हेटे उतर्या, तारूं मुख देखाड गुर्जरी।
मारं मुख देखाडशे चांदो सूरज, सोना इंढोली रूपा बेढलुं।
मीठां पाणीडां जाय गुजरी!

सोने का बीड़ा और चांदी की गागर लेकर गुर्जरी पानी भरने चली, द्वार पर बैठे हुए ससुर ने मना किया। गुर्जरी बोली : 'आपके कहने से मैं नहीं रुकनेवाली, मैं बाजार देखूंगी' माची पर बैठी सासु ने रोका, लेकिन गुर्जरी नहीं मानी। बादशाह ने गुर्जरी को देखा और कहा, 'घूंघट उठा और तेरा मुख दिखा!' गुर्जरी बोली : 'चन्द्र और सूरज देख लेना, मेरा मुख कैसा है, ख्याल आ जायेगा!'

पानी भरकर वापिस आने में देर करने पर भी बहू को मुसीबत का सामना करना पड़ता है। उस पर शंका की जाती है और परिणाम जो कन्या होय तो कुछ नहीं।

(7)

सरखी ने सहियारो पाणीलां संचरी रे, पहेलुं ते बेडुं रमझम लाविया रे,
बीजे ते बेडे रे वारो लागियो रे, आवडीने वारो ने बेनने केम लागी रे?

हम उम्र सखियों के साथ पानी भरने गई और पहली गगर झटपट भरकर ले आई। दूसरी भरने में देर लगी, पूछा, 'बहना क्यों देर हुई।' बोली 'हाथपग धोने लगी इसलिए पानी भरने की बारी बाद में आयी। मेरी सखियों से पूछना।' जवाब मिला 'तुम्हारी सखी तो जनम जूठी है!' ऐसा सुनते ही उसे इतना दु:ख हुआ कि पहुँची चाचा की बाड़ी में। इस में ज़हरीले पौधे थे। सोने की खुर्पी से खोद कर ज़हरीला पौधा निकाला। गन्ने के साथ जहर पिया। रेशम के रूमाल से जहर छाना। पहले प्याले से कुछ न हुआ। दूसरा पिया, तीसरा पीते ही शरीर कांपने लगा, चौथा लेते विष का असर हुआ, पांचवे पर मर गई। चंदन काष्ट में चिता जलाई गई।

–शंका सहन करना कितना दुष्कर! ऐसी घटना घटने पर बावडी भी विजोगण बावडी कही जायगी। कहीं यही स्ट्रक्चर पूरा गये रास भी बनता है।

(8)

पाणीडां ग्याता विजोगण वावना, हाथपग धोयां, मुखडां धोयां
नेणले निरमल निरख्यां नीर होजी!
सासरो कहे आटलीवार वहु शीद लागी? हाथपग धोयां, मुखडां धोयां नेणले।

इस तरह जेठ, देवर और पति पूछते है :
'देर क्यों हुई?' वह कहेगी: 'हाथपग धोये, मुखडे धोये,
नेणकों निरखे निरमल नीर होजी!'

कहीं कोई दूसरी आपत्ति भी आती है। ऐसी कोई सामाजिक घटना घटती है और जीजुडी पर ऐसा लोकगीत रासरूप में गाया जाता है:

(९)

सातसात बेडां जीजी वहु धबके भरी आव्यां जो,
आठमा बेडे वारू लागी रे जीजुडी बामण
हाथै नथी धोया जीजी वहु, पगे नथी धोया जो
आवलडी वारे क्यां लागी रे जीजी बामण?
तलावनी पाले वाणीडो वांसडी वगाडे जो
ऐ रे वांसडीए मनडां मोह्यां रे, जजूडी बामण।
सात सात झटका जीजी वहु अबोडामां झील्या जो
आठमे झटके रे प्राण छांडया रे जजूडी बामण।
सात सात सोडयुं जीजीवहुने वाणीडो रे लावे जो
आठमी जोडयुं परण्यो लावे रे जजूडी बामण
सात सात फेरा जीजीवहुने वाणियो फरे जो
आठमो फेरो परण्यो फरे रे जीजूडी बामण
तलावनी पाले वाणियो पोके पोके राव जो,
परण्यो रूवे रे धरनी बार रे जीजूडी बामण
अगन मुकीने वाणियो, टाढी ऐनी ठारे जो
रख्या उडी ने माया तूटी रे जीजूडी बामण

स्पष्ट रूप से यह गीत जीजी नामक किसी ब्राह्मण स्त्री के अनुराग के दु:खद अंत का निरूपण करता है। जीजी का ब्याह हुआ है। लग्न पूर्व अथवा लग्न पश्चात् उसे किसी बनिये के साथ प्रेम है। जलाशय मिलन स्थान है प्रेमियों का पानी भर कर वापिस आने में देर लगने से गुप्त संबंध प्रकट हो गया। गीत के बोल से प्रकट होता है कि जीजी का पति खुद अथवा दूसरा कोई पीछे गया और गुप्तसंबंध प्रकट हो गया और जीजीबाई के माथे पर शस्त्रप्रहार हुआ और वह मर गई। इस घटना के बाद जीजी के पति और प्रेमी पर जो असर पड़ा, उसका वर्णन मार्मिक रूप से गीत में निरूपित किया गया है। विशेष ध्यान में लेने जैसी बात पर यह है कि ब्रह्मण जैसे उच्च सामाजिक स्तर की ब्याहता का विवाहोपरान्त अवैध संबंध होते हुए भी, गीत में कहीं भी, जीजीबाई के प्रति कोई रोष नहीं है। क्या कारण हो सकता है? सामान्यतया ऐसे अवैध संबंध के प्रति सामाजिक प्रकोप ही प्रतिक्रिया का रूप है, जो यहां नहीं। क्यों? उत्तर है स्त्री ही स्त्री की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति समझती है, और इसी दृष्टि से ही न्याय करती है। प्राकृतिक न्याय अगर पूर्वराग हो तो सामाजिक दृष्टि और नैतिक परंपरा कुछ भी हो, उसका उत्कट सामर्थ्य और सत्ता को स्त्री–मानस ही जानता है। और यह संबंध पूर्वराग का न हो और विवाह के बाद बंधा हुआ विवाहेतर संबंध हो तो भी स्त्री–मानस उसकी अदम्यता और साहसिकता का कारण समझता है, घृणा नहीं, न्याय करता है। विवाहोत्तर संबंध के पीछे कुछ मानसिक और कुछ शारीरिक परिस्थिति जिम्मेदार होती है और आम स्त्री मानस इसे यथार्थ और

साहसिक रूप में समझ कर, ऐसी परिस्थिति और घटना को सामाजिकता से हट कर भी, साहसिक न्याय देती है।

विवाहेतर संबंध के सामाजिक, शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कारणों को समझने के लिए ऐसे जलाशय संबंधित लोकगीत सहायक और मार्गदर्शक हैं। कोई भी स्त्री अपने संसार में आग लगाना नहीं चाहती हो सके उस हद तक ब्याहता एकनिष्ठा, संयम, सतीत्व से नहीं हटती, अपने आप के सामने संघर्ष करती है। मन को मारती है परन्तु कभी-कभी पूर्वानुराग प्रबलतम होता है। साम्प्रत संसार और निजी दाम्पत्य ही शुष्क, निरूत्साही, शंकाशील होता है कि स्त्री को खुद से ही लड़कर, हठकर पूर्वराग का या तो विवाह पश्चात् विवाहोत्तर संबंध का आधार लेना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में स्त्री के समाज की सूक्ष्म और प्रचछन्न अथवा प्रकट सहानुभूति स्त्री के प्रति ही रहती है। लोकगीतों में यह सुस्पष्ट और वाच्य है। लेकिन कोई लोभ-लालच, अनियंत्रित वासना के कारण अगर कोई स्त्री विवाहोत्तर संबंध रखती है, तो यह घृण्य और निंदनीय है। यह भी लोकगीतों में प्रगट और स्पष्ट रूप से है।

(10)

आ पाणी ग्यां 'ता अमे वीजल मांय रे, राश न पूगे, मारो घडूलो न डूबे कूवाने कांठे वहाण्यांवायां रे- आ पाणी ग्या 'ता
हरता ने फरता चार साधुडा रे आया, बाई! अपने जलपाणी पाव रे! पाणी।
चीर फाडीने में तो पडूलो जुडाडयो, साधुडांने जलपाणी पायां रे! पाणी।
बेडुं भरीने वहुवर घेर रे आव्यां, सासुजी पूछवा लाग्यां रे! आ पाणी।
घंटी ताणो तो वहु घरमां रे पेसो, झांपे झूंपडी बनावो रे! आ पाणी।
घंटी ताणुं ना तारा घरमां न पेसुं, झांपे झूंपडी बनावो रे! आ पाणी।
हाथमां छे पोटलुं ने बगलमां छोकरं, लीधी मीयरिपानी वाट रे! आ पाणी।
पहले मनामणे ससरोजी आया, वलो वहुवारु घैर रे। आ पाणी
तमारी ते वाणी ससरा नहीं वलुं रे, सासुजीनां कडवां बोल रे! आ पाणी।
बीजा भनाभण जेठजी आया, वलो वहुवारू घैर रे।
तमारी तो वाणी जेठजी नहीं वलुं रे, मातानां कडवेलां बोल रे। आ पाणी।
छेल्ले मनामणे परणोजी आव्या, वलो गोरांदे घेर रे!
परण्याना हाथमां लेवड राश्य रे, ऐना चाबखा लगाव्या बे चार रे!
चाबखे पाछां वल्यां रे! आ पाणी ग्या 'ता।

''पनिकारी और साधु'' के संदर्भ वाले जो लोकगीत की विविध रचनाएं हैं, वे विशिष्ट अध्ययन योग्य है। यहां ब्याहता के अन्य पुरुष के संपर्क का भिन्न-विभिन्न परिणाम देखने में आते है। ऐसे गीतों के पीछे भी कोई न कोई वास्तविक घटना ही निहित है। इस वर्ग के जो विविध लोकगीत हैं, इनमें घटना-संदर्भ इस प्रकार के मिलते हैं :

(1) भाभी और नंनद पानी भरने जाती हैं, साधु मिलता है, ननंद साधु के साथ

भाग जाती है और ससुरालवाले मानते हैं कि बहू ने ही ननंद को प्रेरणा देकर अपने मन गुप्त डंख प्रकट किया और ससुराल को अपयश का भाजन बनाया।

(2) किसी साधु को पानी पिलाने से बहू पर ससुराल में शंका की जाती है। निर्दोष बहू पर आक्षेप-शंका।

(3) पति से असंतुष्ट और ससुराल से त्रस्त पनिहारी का किसी साधु के साथ भाग जाना।

(4) ज्ञानवश, वैराग्यवश, शुद्ध धर्मबुद्धि से साधु कंठीधारक स्त्री पर ससुराल और पति का नाराज़गी। स्त्री का अंतर से वैरागी हो जाना। संसार में, विषय-वासना में रूचि न हो और अधिकारी का अपना गुरु बनाने से दाम्पत्य संघर्ष।

साधु और सुंदरी के विविध लोकगीतों में जलाशय मुख्य मिलन निमित्त और स्थान है। हमारी सामाजिक पद्धति ही इस तरह की रही जिसमें ब्याहता का पराये पुरुष से संपर्क न हो सके। जलाशय ऐसा स्थान है जहां यह संपर्क संभव है, लोककथा में भी नायक-नायिका का मिलन मंदिर या जलाशय में होता है। जोशी, दोशीयानी कपड़े का व्यापारी, मणियार साधु, ब्राह्मणबटुक अथवा पुरोहित ऐसे व्यवसायिक हैं जो स्त्रीवर्ग का संपर्क कर सकते हैं। इसलिये लोककथा में प्रेमी नायक ऐसा कोई भेस बदलकर नायिका से संपर्क करता है। जलाशय स्थान ऐसा है जो गांव से दूर भी होता है और एकांत मिलता है। प्रियतमा और परकीया जल भरने के बहाने मिलती है। इसलिये लोकगीत, प्रेमकथा, कामकथा आदि में जलाशय, मंदिर और उद्यान जैसे स्थल विशेष मिलन-स्थान रखते हैं। कभी-कभी स्त्री का कोई दोष नहीं होने पर भी शंका के कारण घरबार और संसार का त्याग करना पड़ता है।

(11)

राश ना पहोंचे, मारो घडूलियो ना डूबे, साल्ले संघाडी में तो पाणीडां काढयां
हरता-फरता बे साधु आव्या। 'बेन अमने पाणीडां पाव रे। कान हरि केम रमीए? कंठी बंधावो तो पाणी पीओ! कान हरि केम रमीए?'
कंठी बंधावी में तो पाणीडां पायां : 'लो भाईओ साधुओ पीओ रे।'कानहरि'
'कंठी ना छोडुं घरमां ना पेसुं, वाडामां जुवारा बांधुं रे।' कानहरि'

अर्थात् - कुएँ में रस्सी पहुंचती नहीं थी, गगरी पानी में डूबती नहीं थी तो मैंने रस्सी के साथ मेरी साड़ी बांध दी और पानी निकाला। दो साधु घूमते-घूमते कुएँ पर आये और बोले : 'बहन हमें पानी पिलाओं' मैंने पानी दिया तो वे बोले : 'कंठी बँधवाओगी तो हम पानी पीऐंगे।' मैंने कंठी बंधवाई। साधुओं को पानी पिलाया। मैं घर वापिस आयी और ननंद से कहा। 'बहन! मेरे सर पर से गागर उतारो!' ननद बोली 'गागर नीचे पटक दो और फिर दूसरे घड़े को! घर में प्रवेश करना चाहती हो तो कंठी छोड़कर आओ!' (मैंने कहा:) 'कंठी नहीं छोडूंगी'

(घर में आने नहीं दो तो) मैं बाड़े में ज्वार के लट्ठे से झोपंडी बनाऊंगी और उसमें रहूंगी।'

कभी कोई स्त्री मोहवश भी साधु के साथ चली जाती है। एक लोकगीत में कमला तरकारी बेचने सूरत शहर के बाजार में गई। रास्ते में उसे साधु मिला। मोहवश कमला साधु के साथ भाग गई। इसी तरह साधु के साथ भाग जाने वाली स्त्रीओं के विषय पर जो लोकगीत मिलते हैं इन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि कोई विशिष्ट परिस्थिति और मनोदशा के कारण ही ब्याहता घरबार और संसार का त्याग करती है। यहीं वैराग्य भी होता है। स्त्री को संसार संबंध में कोई रस और विशेष अभिरूचि नहीं होती और पुरुष अतिकामुक और विलासी होता है। इस कारण से दाम्पत्य संघर्ष होता है। संन्यासग्रन्थि, गुरुग्रन्थि या कोई खास सम्प्रदायग्रन्थि में से ऐसे दाम्पत्यसंघर्ष पैदा होता है। स्त्री के मन भक्ति, वैराग्य और गुरुश्रध्धाभक्ति बहुमूल्य होता है। ऐसी ब्याहता के लिये वैराग्य सहजसिद्ध होता है। गुरु के पास दीक्षा लेने के बाद वह पति के साथ देहसंबंध भी रखना वर्ज्य समझती है। ऐसी स्थिति में पति के मन में पत्नी अन्य काम होने की शंका जन्म लेती है और वह पत्नी की प्रत्येक गतिविधि पर शंका की नज़र से देखता है। ऐसा असाधारण और अद्‌भुत सूक्ष्म दाम्पत्य संघर्ष राजस्थान, कच्छ, गुजरात और सौराष्ट्र में प्रचलित रूपांदे-मालदे की कथा में हैं। दीक्षा के बाद देहसंबंध होने का अभिगम प्रतीक का रूप लेता है। रूपांदे पति के साथ सोते समय बीच में खुल्ली तलवार रखती है। गुरु के वाचक आने पर रूपांदे बीज के पाट की उपासना में जाती है। पति पीछा करता है। बाद में पति को पत्नी की भक्ति/साधना और सतीत्व की प्रतीति होती है और वह भी साधक संत बनता है।

जलाशयी साधु-सुंदरी मिलन में ऐसी वैराग्य की भूमिका नहीं है। विशेष रूप से तो अकारण शंका, लोकापवाद के कारण ही लाचार स्त्री को संसार-त्याग करना पड़ता है।

(12)

सोना ईंढोली, रूपला बेडलानी हेल्य, पाणीडां ग्या' तां सरोवरपाल
सामा मल्या छे साधु बेन्यार 'चालो साधुजी! आपणा घेर'
बेडुं मेल्युं सरोवर पाल, ईंढोणी वलगाडी आंबाडाल।
'ल्यो ल्यो साधुडानो करशो ढील, सासु आवी तो देशे गाल।
बई रे पडोशण बेन करुं, सासु आवे तो वात नो कर
तने आपुं मारा हैडानो हार, तने आपुं मारा कान झाल्य'
'हैयानो हार तारा हैडे सोहाय, काननी झाल्य मारे अति घणी'
सासुजी आव्यां खडकी महीं; दोडी पाडोशण वात करवा गई।
'सरवण सरवाण तुं मारो पुत्र! आ धरम घेलडीने काढी रे मूक!'
'भाई रे गोवाली, तुं मारो वीर, देखाड्य वन केरी वाटलडी!'
नाना रूखडदेव भूख्या रे थाव, मोटा रूखडदेव तरस्या थाय।
ठालां सरोवर छलकी जाय, वांझिया आंबे ऊल घणां थाय

नाना रूखडदेव पल रे खाय, मोटा रूखडदेव पाणी पीए।
सासु रे जुए पारणा मह्मीं, पुत्र विना पारणां गमे नहीं।
सासुजी जुए आरेडा मह्मीं। वहु विना ओरडा गमें नहीं।
'सरवण सरवण! तुं मारो पुत्र, घरमघेलडीने तेडी रे लाव्य।'
'सासुजी उठी माताजी धाय, तोय नहीं आवुं तमारे घेर!'

सोने का इंढली बीड़ा और चांदी की गगरी लेकर वह सरोवर पानी भरने चली। सामने दो-चार साधु आये तो कहा: 'साधुजी! आप मेरे घर पधारो।' गगरी सरोवरपाल पर और बीड़ा इंढोली आम्रवृक्ष की डाल पर रखा और साधुओं से कहा 'विलंब नहीं करना , मेरी सास आ जायेगी और देख लेगी तो गाली देगी' (साधु घर पर आये, स्वागत कर के विदा किया, पडो़सन साधुओं को देख गई थी उसे मनाने के लिय कहा: ('मेरी बहन पड़ोसन ! मेरीसाधु आये तब मत कहना (कि मेरे घर साधु आये थे) मैं तुझे मेरे हैया का हार दूंगी। कान की झाल दूंगी। (प्डोसन ने कहा) 'मेरा हार मेरे हृदय पर शोभता है और मेरे पास बहुत कान की झालें है' (इतने में) सासु घर में दाखिल हुई। पडोसन दौड़ती हुई चुगली करने गई। (सासु ने अपने पुत्र से कहा:) 'श्रवण! श्रवण! तूं तो मेरा बेटा। धर्ममुग्ध तेरी पत्नी को घर से बाहर निकाल दे!' (वधू गृह से निकल पड़ी, उसे रास्ते में ग्वाला मिला, उससे कहा: 'भैया, गोपाल, तूं तो मेरा वीर है, मुझे वन का रास्ता दिखा दो' (ग्वाले ने कहा:) 'तेरे बांई ओर जो पर्वत है उसे छोड़ दे और दांई ओर जो पर्वत है उस ओर चली जा' (वधू वन में चली गई बाद में उसके ससुराल में छोटे रूखडदेव भूख से और प्यास से पीड़ित हुए, जो सरोवर खाली होता है वही छलक उठता है और निःसंतान के घर के आम्रवृक्ष ही विशेष फल देते हैं। सासु ने पलने में देखा। पुत्र-विहिन चलना उसे अच्छा न लगा। सासुजी कमरे में गई। बहू के बिना कमरा अच्छा नहीं लगा। (उसने पुत्र से कहा:) श्रवण! श्रवण! तुं तो मेरा बेटा! धर्म-मुग्धा को ले आना!' (पुत्र वन में गया पत्नी को लेने तो पत्नी ने उसे कहा:) 'मेरी सासुजी मेरी माताजी बनेगी तो भी मैं अब तुम्हारे घर वापस नहीं आऊंगी!'

(13)

अमे सरोवरे पाणी ग्या'तां रे मरघे सरीखे, पाले वणझारा नो बेटा रे! मरघे
पीटये ऐणे कांकरी नाखी रे, मरघे सरीखे , हूं तो खाली बेडे आवी रे!-''-
बईजी बेडलिया उतरावो रे, मरघे सरीखे, वहु भर्यां च्यांथी ठाला रें!-''-
पिटये ऐरे कांकरी नांखी रे, मरघे सरीखे, मारी सोना गागर नांदी रे!-''-
वहु वणझाराने जाजो रे, मरघे सरीखे, बईजी जाशुं तो शुं थासे रे!-''-
अमे घउं गोरडिया खाशुं रे, मरघे सरीखे, अमे गोल माटलिया खाऊ सशुं रे!-''-
अमे झा झोटयुंना खाशुं रे, मरघे सरीखे, अमे धोली पछेडी आढशुं रे!-''-
अमे रंगल धोको लेशुं रे, मरघे सरीखे, अमे आगला पोठीए बेससुं रे!-''-
अमे हो तो करतां जाशुं रे, मरघे सरीखे,

मृग, जैसे हम सरोवर का पानी भरने चलें, सरोवर की पाल पर वणझारा का बेटा

बैठा था। उसने कंकर मारी। मैं खाली फूटी गागर लेके वापस आयी सासुजी ने कहा: 'गगरी उतराना!' (सासु बोली:) 'बहू गगरी खाली कहां से भरी!' (बहू ने कहा:) 'पीट्ये बंजारे के बेटे ने कंकरी मारी और मेरी सोने की गगरी फाड़े डाली!' (सासु ने कहा:) 'बहू बनजारे के साथ चली जा) (वह बोली:) 'सासुजी! अगर मैं बनजारे के साथ जाऊँगी तो गोरडीए (उच्च किस्म की) गेहूँ खेयेंगे, मटकी का गुड़ खायेंगे, झोटयुं (उत्तम भैंस) का घी खायेंगे । धोली पछेडी (उत्तम श्वेत वस्त्र) पहनेंगे हाथ में रंगीन धोका रखेंगे, अगली पोठी पर बैठेंगे और हो हो करते जायेंगे!'

यहाँ शंका के प्रत्युत्तर में बहु का साहसिक मजाक है। यही लोकगीत की देन है: साहसिक मुक्त हास्य-व्यंग्य, वास्तविक मजाक। यहीं बनजारे के जीवन का चित्र मिलता है साथ में एक गरीब किसान के मुकाबले बनजारे कितने समृद्ध और सुखी हैं, इस का मार्मिक चित्र मिलता है। यहीं सूक्ष्म कटाक्ष निहित हैं। कितने और कैसे अल्प साधन में ग्रामवनिता बहू के रूप में पूरे सुख-संतोष के साथ अपना जीवन और उत्तरदायित्व निभाती है? फिर भी सास, उसको नजर अंदाज करके छेड़छाड़ करने वाले के साथ चले जाने को कहें तो उसे दूसरा जवाब भी क्या दे? ऐसे, गीत, सूक्ष्म उपहास ही मानसिक तंगदशा और त्रस्तदशा के मुक्तिमार्ग है, उपचार है। लोकगीत, इस दृष्टि से आम लोगों का केथरसीस-उर्मिका, भाव संवेदन का शुद्धीकरण, रूपान्तरण, ऊर्ध्वीकरण और विवेचन करता है।

बनजारा लोकगीतों का विशिष्ट पात्र है। ऐसा कौन सा कारण है कि बनजारा और मणियारा लोकगीतों में बार-बार आते हैं? यही ऐसे पात्र हैं, व्यावसायिक हैं जिन्हें स्त्रीयों का संपर्क रहता था, क्या ही कारण है? अनेक रास के लयात्मक मुखडे और ध्रुवपंक्ति में बन दिखाई पडेगा। गठरी लेकर गांव-गांव घूमता और विविध प्रकार की चीज-वस्तुएं लाने वाला सुसमृद्ध बनजारा ग्रामवनिता के रस-औत्सुक्य का भाजन है और कहीं-कहीं युवा बनजारे के प्रेमविवश कोई ग्राम कन्या या कोई ब्याहता गाँव छोड़कर भाग जाये, ऐसी अपवादरूप घटना बनती रहती होगी और बनजारे के साथ अनुराग-निबन्ध किसी युवती का गुप्तप्रेम प्रकाश में आते ही गांव में चर्चा चलती रहती होगी और ऐसी घटना पर ही कथाश्रयी यानी घटनाआधारित लोकगीत रास के रूप में गाये जाते होंगे। लोकगीत में विशेष संख्या तो नारिओं के वस्त्राभूषण की ऐषणा में से ही बने हैं। पति विदेश जाता है तो पत्नी वस्त्राभूषण मंगाती है। विवाह या मामेरू में जो वस्त्राभूषण आते हैं गौना होता है, वहां भी वस्त्राभूषण के गीत गाये जाते हैं। जैसी शृंगारोपयोगी चीजवस्तुओं का संबंध भी बनजारा के साथ। ग्राम प्रदेश में स्थायी दुकान नहीं थी। अत: मेला के समय, विविध तिथियों और उत्सवों के समय मेला में से चीजवस्तु मिलती थी। और कोई बनजारे का झुण्ड गांव से गुजरता था और बनजारे गांव के सिवान में डेरा डालते थे तब भी जैसी शृंगारोपयोगी सामग्री और वस्त्राभूषण मिलने का, देखने का अवसर मिलता रहता था। इसी कारण से भी अनेक लोकगीतों में, विशेषत: रास के रूप में गाये जाते गीतों में बनजारे का

उल्लेख आता है। गीत के मुखड़े और ध्रुवपंडित में भी बनजारा हाजिर रहता है।

(१४)

ऐसे बनजारे के झुण्ड का और ग्रामवनिता के अनुराग का लोकगीत :

दूर ते देशथी वण्झारो आवियो, आवीने उतयो शीला वड हेठ रे!
नंणंद-भोजाई बेउं पाणीडां ग्या'तां, वणजारो हाट बिछाई रियो रे।
'करो रे वणझारा नायक, चूडलीनां मूल! भरभर हो, सुंदर बांय पहेरीअे रे!'
'मारे नथी लेवा गोरी, तारां चूडलानां मूल!' वणझारो पाल साही रह्यो रे।
'दूर ते देशथी भंवरजी आवीआ, आवीने उतर्या आपणां महेलमां रे!'
ओरी ते आव्य मारी मानी रे जाई! सखदखनी बेसी बेनी वातुं करो रे।'
'तारी भरभर हो नखराजादीऐ केम करी पहेया चूडलो रे?'
'आपणां भंडारमांथी सोनैवा काढ्या, सोना-रूपां वेचीने पेयो चूडलो रे।'
आपणी घोडारमांथी घोडीला रे, काढ्या, हस्ती वेचीने पेयो चूडलो रे।'
'घोडारना घोडिला मारी हारे लै चाल्यो, केम करी हारामजादीए पेयो चूडलो रे'
''ऐना वीराने घेर बेटडो जायो, साथीआ पूरीने पेयो चूडलो रे।'
'ऐना वीराने घेर बेटी रे, जाई केम करी नखराजादीऐ पेयो चूडलो रे?'
'साचुं तुं बाले मारी मानी रे जाई। तारी भरभर हरामजादीए क्यांथी पेयो चूडलो रे'
'दूर ते देशथी वणजारो आव्यो, आवीने उतयो शीखा वड केठ रे
नणंद-भोजाई बेय पाणीडां ग्या'तां, वणजारो हाट बिछाई रह्यो रे!
कहा रे नायक चूडलीनां मूल! चूडीनां मूल गोरी माने नथी लेवां रे
नायक वणझारों पालव साही रह्यो, भ भरने सुंदर बांय पेरावतो रे!
मेलो नायक तमे पालव अमारो, वणझारो आवीने उतयो महेलमां रे'
'घणां वरस जीवो मारी मानी रे जाई, तारी भरभर हरामजादीने मैयर वणावीये रे'

दूर देश से बनजारा आया और बरगद के शीतल पेड के नीचे डेरा लगाया। नणंद और भाभी पानी भरने गयें तब बनजारे ने हाट बिठाई। (भाभी जिस का नाम भरभर था उसने कहा:) '''बनजारा नायक! चूडी का मूल्य कहो! हम इसे सुंदर कलाई में पहने' (बनजारे ने कहा:)' मैं गोरी! तेरी चूडी का मूल्य लेना नहीं चाहता 'ऐसा कहकर बनजारे ने पालव पकड़ा। (भरभर बोली:) 'बनजारा नायक! हमारा पालव छोड़ दो और हमारे महल में आकर रहो'। (इस घटना के बाद) दूर देश गये हुए भंवरजी आये और अपने महल में उतरे (और अपनी बहन से कहा:) 'मेरी मां की जाई! तु हमारे पास आ बैठ कर हे बहन! सुखदुःख की बातें कर तेरी भाभी, भरभर, हरामजादी ने चूडी कैसे पहनी?' (बहन कहती है:) 'हमारे भंडार में से सोना निकाला। सोना-चांदी बेंच कर चूडी पहनी?' (भंवरजी बोला:) 'भंडार की कूंची तो मैं साथ में ले गया था, फिर हरामजादी ने चूडी कैसे पहनी?' (बहन ने कहा:) 'हमारे अस्तबल में से घोड़ा निकाला, हाथी को बेचा और चूडी पहनी।' (भंवरजी बोला:) अस्तबल के घोड़े को तो मैं ले गया था, फिर हरामजादी ने चूडी कैसे पहनी?' (बहन ने कहा:) 'उस के भाई के घर बेटा जन्मा और वह सांथीया भरने गई और चूडी पाई' (भंवरजी बोला:) 'उसके भाई के घर तो बेटी का जन्म हुआ, फिर

हरामजादी ने चूडी कैसे पहनी?' (फिर बहन ने कहा) दूर देश से ......(सुनकर भंवरजी बोला:) 'अनेक वर्ष जीओ मेरी मां की जाई! तारी भरभर हरामजादी को मैयर भेज देंवे।'

स्त्री की आभूषणएषणा और अभाव इतने तीव्र मात्रा में होते हैं कि कभी-कभी ब्याहता प्रासि के सामने पावित्र्य का सौदा भी कर लेती है। शृंगारोपयोगी वस्त्राभूषण प्राप्त करने के लिये देह का सौदा किया हो, इनके कुछ इंगित अन्य लोकगीतों में भी मिलते हैं।

जलाशय संबंधित लोगीतों में अत्यंत करुणतम लोकगीत 'रानी और मोर' का है। गेय ढाल भी अत्यंत करुण है और गाते गाते रास लेते समय स्त्री वृंद की आंखे आंसू से भर जाती हैं। इस गीत के सात-आठ पाठान्तर हैं। मुख्य घटना समान है।

रानी पानी भरने जाती थी तब पालित मोर

उसे नदी की रेत में पानी देने वाला वीरडा गाड देता था।

रानी पानी भरती थी तब भार पानी ढाल देता था। रानी और मोर के सम्बन्ध के बारे में किसी भरवाड, पनिहारी, वडारण या ननद द्वारा राजा को उकसाया गया: 'मेरी रानी मोर से प्रेम करती है!' असहिष्णु और शंकाशील राजा ने मोर का वध किया और रानी के विलाप से पश्चात्ताप करके सोना-रूपा का मोर बनवाया। दूसरे पाठान्तर के अनुसार राजा ने मोर का मांस पकवाया और रानी को खिलाया, पता चलने पर रानी ने अपने प्राण का बलिदान दिया।

विविध पाठान्तर में कथासूत्र एक ही है। इस रासरचना के पीछे कोई वास्तविक घटना का योगदान है और मूल घटना ने लोकगीत में प्रतीकात्मक रूप लिया है। वैसे भी लोकगीत में मोर, पोपट वगैरह विवाहोत्तर प्रेमीपात्र के प्रतीक हैं यह तो स्पष्ट और प्रगट है की कि कोई रानी खुद पानी भरने नहीं जायेगी। समृद्ध जमीदार, या राजा की रानी आमवर्गीय महिला की तरह पानी भरने नहीं जाती। फिर ऐसा आलेखन क्यों? कैसे? एक पाठान्तरानुसार मोर सूखी नदी के किनारे रहता है। रानी के सर पर गगरी चढ़ाता है और भरवाड देख जाता है। वह राजा को कहता है। राजा बंदूक लेकर जाता है। गाड़ी में शराब लाता है। मोर का मांस पकवाता है और रानी को खाने के लिए कहता है। रानी पूछती है: 'क्या आप अपने बेटे के मांस का भक्षण कर सकेंगे?' रानी का उद्वेग देख कर राजा रानी की गागर पर, वस्त्र पर, घर की दीवार पर मोर चितराने के लिये कहता है। रानी कहती हैं क्या चित्रित मोर बोलेगा' यहां गीत में है :

पियरनो पडोसी रे मोर केम मारियो?

'मेरे मायके के पडोसी मोर को क्यों मारा?' इस प्रश्न से ही पट खुलता है। संभवत: पत्नी के मायके से कोई आया और उसके साथ पत्नी का अनुचित संबंध होने की शंका से पति ने उस निर्दोष व्यक्ति का खून किया। बाद में पता लगने पर पश्चाताप किया, लेकिन अब दूसरा चारा ही क्या? और पत्नी के मन में तो दूसरा घाव जूझता रहता है : पति के शंका और अविश्वास का!

इस घटना के पांच-सात जो भी पाठान्तर है, वे सब सौराष्ट, में विख्यात हैं और अत्यंत हृदयद्रावक और करुण लोकढाल में गाये जाते हैं। पुरुष की पज़ेसिव मेन्टेलिटी और शंकावृत्ति पर लोकगीत में बहुत कुछ है, कहीं प्रकट तो कहीं प्रच्छन्न। पुरुषमानस पर अद्भुत कटाक्ष स्पेनिश लेखक ग्रेबियल गार्शिया मार्कवेज़ लेखित 'ईन इविल अवर' में भी है, पूरा लोकरंग के साथ, गार्शिया आंचलिक उपन्यास के विश्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं और उनकी 'हन्ड्रेड इयर्स ऑफ सोलिटयूड' और अन्य कृतियां स्पेनिश लोकजीवन और लोकतत्व का अनूठा निरूपण करने में समर्थ है। 'ईन इविल अवर' में रोबर्ट ऐसीझ त्रस्त मनोदशा में है क्योंकि किसी ने पोलपत्रिका में लिखा है कि रिबेक इलाबेला' रोबटो की पत्नी की पुत्री है, लेखिन उस का बाप तीसरा है। रोबर्ट को त्रस्त देखकर उस की माता कहती है : दुःखी न होना, तेरे बारे में भी लोग ऐसा ही कहते थे। मेरे बाप ने मेरे साथ सोनेवाले की बंदूक से हत्या कर दी थी, ऐसा कहा जाता था। सच तो यह है कि मुझे वस्त्र बदलते देखकर सामने पेड़ पर बैठा बंदर उत्तेजित हो गया और हस्तक्षेप करने लगा। इस दृश्य से क्रूद्ध तेरे पिता ने उस बंदर को बंदूक की गोली से उड़ा दिया।

यह है लोकमानव का दृष्टिबिन्दु और पुरुष का एकाधिकार त्रस्त पझेसिव मनोवृत्तिवाला मानस: लोकगीत उसे भी बराबर समझते, पकड़ते और प्रकाशित भी करते हैं।

इतिहास-लेखन में लोकसंस्कृति की भूमिका

किसी भी अंचल या जनपद का इतिहास उसके निवासियों का इतिहास होता है, उस पर शासन करने वाले राजाओं-महाराजाओं या नवाबों का नहीं। इतिहासकार द्वारा राजा-महाराजा के युद्धों, विदेशी संबंधों, राज्य में किये गये कार्यों, निर्माणों और सुधारों का क्रमबद्ध वर्णन महत्त्वपूर्ण समझा जाता था और उससे ही एक विशिष्ट दृष्टि निर्मित हो जाती थी, जिससे वहाँ की जनता की आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति का विवरण नियंत्रित होता था। इस तरह इतिहास के केन्द्र में सत्ता ही प्रधान रही, जबकि इतिहासकार की दृष्टि जनता पर केन्द्रित होना चाहिए। इतिहास के केन्द्र में जनता की प्रधानता जरूरी है और अगर राजामहाराजा का भी इतिहास लिखना है, तो वह भी जनकेन्द्रित दृष्टि से लिखा जाना उचित है।

यही जनकेन्द्रित दृष्टि इतिहास के प्रमाणों या साक्ष्यों के लिए प्रेरक है। शिलालेख, सनदें, ताम्रपत्र आदि अधिकतर राजाओं-महाराजाओं और उनके सामन्तों द्वारा उन्हीं के पक्ष में लिखें प्रमाण या साक्ष्य हैं और उन्हीं को इतिहासकार प्रामाणिक मानता है। लोकसाक्ष्यों को अप्रामाणिक कहकर उपेक्षित कर दिया जाता है। गहराई से देखा जाय तो लोकसाक्ष्यों में स्वार्थ की प्रवृत्ति नहीं होती, जबकि राजा या सामन्त अपने यश के लिए या किसी दूसरे स्वार्थवश शिला या कागज पर लिखवाकर कई प्रमाण खड़े कर देते हैं। वस्तुत: इतिहासकार को तटस्थ रहकर किसी भी साक्ष्य पर विचार करना चाहिए। सत्ता द्वारा स्थापित साक्ष्यों के उद्देश्य को भी दृष्टि में रखने की जरूरत है।

लोकसाक्ष्यों की भूमिका

लोकसाक्ष्य कई प्रकार के होते हैं, लेकिन वर्गीकरण की दृष्टि से उन्हें निम्न वर्गों में रखा जा सकता है :-

(अ) **मौखिक परम्परा में जीवित** - जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप में प्रचलित रहते हैं जैसे किवंदंतियाँ, लोककहावतें, लोककथाएँ, मिथ, लोकनाट्य, लोकगीत आदि।

(ब) **लिखित परम्परा में सुरक्षित** - सनद, पटौ, पत्र, ग्रंथ आदि जो तत्कालीन तथ्यों का उल्लेख या वर्णन करते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रहते हैं।

(स) **उत्कीर्ण** - प्रस्तर और काष्ठ तथा ताम्रादि पर खोदे हुए लेख, लोकमूर्तियाँ आदि।

(द) **चित्रांकित** – दीवालों, गुहाओं, कागजों , पकड़े, चमड़े आदि पर अंकित लोकचित्र।

इन वर्गों में संकेतित लोकसाक्ष्यों की विशेषता यह है कि वे लोक में प्रचलित होते हैं। उनकी रचना भले ही किसी साधारण व्यक्ति के द्वारा हुई हो, पर वे लोक द्वारा स्वीकृत होकर लोकमान्य बन जाते हैं।

दूसरी विशेषता है कि वे हर प्रकार के भेदभाव से दूर निरपेक्ष या पक्षपातविहीन होते हैं। इन दोनों विशेषताओं के कारण एक प्रजातांत्रिक देश में उनका महत्व और भी बढ़ जाता है। एक विशेष बात यह भी है कि लोकसाक्ष्य लोकजीवन से जुड़े होने से अधिक उपयोगी और प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। राजा द्वारा निर्मित या स्थापित साक्ष्य अतिरिक्त दबाव के कारण उसके राज्यकाल में ही मान्य रहता है, बाद में लोक से उसका कोई संबंध नहीं रहता। यह बात अलग है कि उसमें कोई आकर्षण या चमत्कार हो, जो लोक को बाँध सके।

मैं यहाँ हर वर्ग के कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ, जो बुंदेलखण्ड के इतिहास में अपनी अहम् भूमिका के कारण आज भी विख्यात हैं और जिन्होंने लोकसंस्कृति के इतिहास को रचा है। प्रसिद्ध इतिहासकारों के समक्ष इन लोकसाक्ष्यों को उपस्थित करते हुए मैं उनकी शक्ति और प्रभाव के द्वारा उनके दुर्लभ व्यक्तित्व की पहचान कराना चाहता हूँ, ताकि बुंदेलखण्ड का इतिहास उन्हें और उन जैसों को अपनाकर अपने सही स्वरूप में अवतरित हो सके।

मौखिक परम्परा में तो कई लोकसाक्ष्य ऐसे हैं, जो आज भी अपनी प्रभावक्षमता के कारण अमर हैं। कारसदेव की गाथा में चरागाही संस्कृति का यथार्थ चित्र उभरा है जो चंदेलकालीन अहीर, गड़रियों और गूजरों की संस्कृति रही है। इसी तरह आल्हा की गाथा में चंदेलकालीन लोक का इतिहास छिपा है। तत्कालीन वीरतामूलक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व, बदला लेने और स्वाभिमानी हठ की मानसिकता का चित्रण तथा नारी के मूक या मुखर आमंत्रण पर अपहरण करने के संघर्ष की अभिव्यक्ति तत्कालीन लोक की चित्तवृत्ति का लोकसाक्ष्य है। वत्सराज के रूपकषटकम् में नारी अपहरण का उदाहरण मिलता है। इस युग में यह समस्या लोककथा और खेल तक पहुँच गयी थी। 'सुअटा' नामक कुमारी कन्याओं के खेल में भूत या राक्षस अथवा दानव कही जाने वाली मूर्ति या भित्तिचित्र स्कन्द का विकृत रूप है। कुमारियाँ अपहरण से रक्षा के लिए अनिष्टकारी ग्रहों के समुच्चय के प्रतीक स्कंद की पूजा करती हैं और मनवांछित पति पाने के लिए गौरी की।

एक उदाहरण जैतपुर के राजा पारीछत का है, जिन्होंने १८५७ ई. के बहुत पहले सन् १८४०-४२ में अंग्रेजों से युद्ध किया था। आजादी की लड़ाई के लिए उन्होंने संवत १८८९ वि.(१८३६ ई.) की होली-उपरान्त पहले मंगल की वासन्ती संध्या पर चरखारी में बुढ़वामंगल का आयोजन किया था, जिसमें उन्हें ही नेतृत्व का दायित्व सौंपा गया था। एक उक्ति इसके प्रमाण में लोकप्रचलित है- 'सबरे

राजा जुरे चरखारी बुढ़वामंगल कीन। पुन सब जेई आड़ गढ़िया में, पारीछत कों मुहरा दीन॥' यह खबर अंग्रेजों तक पहुँची और कैथां की छावनी ने जैतपुर पर धावा बोल दिया। कई जगह युद्ध हुए। एक लोकगीत कहता है-

पैली न्याँव धँधवा भई, दूजी री कछारन माँह।
तीजी मानिक चौक में, जहँ जंग बची तलवार॥

धँधवा, कछारों और मानिक चौक में भयंकर युद्ध हुए। इतिहास भले ही आनाकानी करे, पर यह लोकगीत प्रस्तर अभिलेख से भी कीमती है। लोककवि राजाश्रित चारण नहीं है, जो सिर्फ राजा की प्रशस्ति करे। वह तो लोक का इतिहास लिखता है और वह इतिहास, जिसे इतिहास भी नहीं जानता। युद्धों में पारीछत की पराजय हुई और जैतपुर पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। विवश होकर पारीछत बगौरा की डाँग (जंगल) में चले गये। फिर युद्ध की तैयारी और अंग्रेजों की फौज से युद्ध। पारीछत गुरिल्ला या छापामार हमलों का सहारा लेते थे, अतएव कई युद्ध हुए। लाहौर को जाने वाली अंग्रेजी फौज भी नौगाँव से डाँग की तरफ मुड़ गयी। कई बार राजा जीते, कई बार हारे। आखिरकार जंगलों और पहाड़ों में भागते फिरे, ताकि आजादी के लिए फिर जूझ सकें। इस वर्णन का साक्षी है 'पारीछत कौ कटक', जो द्विज किशोर रचित एक लोकप्रबंध है' और जिसकी हस्तलिखित प्रति की, अंतिम पुष्पिका इस प्रकार है- 'इते श्री राजा पारीछत जू कौ कटक दूसरो संपूरन समापता भादों बदि २ संवत १९७१ मुकाम छत्रपुर महलन के दुवैरे मोदी के पछीत लिषते पं. दुबे भईया लाल.... ।' पुष्पिका के अनुसार प्रतिलिपि-काल सं. १९७१ (१९१४ ई.) है। इस लिखित लोक साक्ष्य की कुछ पंक्तियाँ देखें -

१. कर कूँच जैतपुर सैं बगौरा पै मेले।
चौगान पकर गये मंत्र अच्छौ खेले।
बगसीस भई ज्वानन खाँ पगडी सेले।
सब राजा दगा दै गये नृप लड़े अकेले॥

२. एक कोद अरजंट गओ एक कोद जरनैल।
डाँरा बगौरा की धनी भागत मिलै न गैल॥
नृप पारीछत के लरे गओ निस्चर कौ तेज।
जात हंतो लाहौर खाँ अटक रहो अंगरेज॥

३. सब राजा रानी भये, पर पारीछत भूप।
जात हती हिंदुवान की, राखो सब कौ रूप॥

४. काऊ नें सैर भाखे काऊ नें लावनी।
अब कै हल्ला में फूँकी जात छावनी॥

५. दो मारे कवि तान बिगुल बाँसुरी वालौ।

पहले उदाहरण में बगौरा के युद्ध की तैयारी का वर्णन है, तो दूसरे में अंग्रेजों की पराजय का। यह भी बताया गया है कि अंग्रेजी फौज लाहौर जा रही थी, पर यहाँ उलझ कर रह गयी। तीसरे में पारीछत को देश की प्रतिष्ठा का रक्षक कहा गया है और चौथे में सैर तथा लावनी में राष्ट्रीय लोककाव्य की शक्ति का आभास है।

पाँचवे में लोककवि द्वारा मारे गये दो दुश्मनों का उल्लेख है। स्पष्ट है कि कभी कविता से छावनी फुँकी है और कभी कवि के हाथों से।

लोकप्रचलित उक्तियों में कहीं पारीछत की वीरता का गान है और कहीं उनकी परिस्थिति का। एक-एक उदाहरण देखें -

१. फिरंगियन की सेना गरद मिल जाय।
पारीछत कौ तेगा कतल कर जाय॥
भागे फिरंगी महोबे को जायँ।
पारीछत राजा खदेड़त जायँ॥

२. महुआ भूँजे खपरिया में।
पारीछत ने धमके दुफरिया में॥

लिखित परम्परा का एक उदाहरण अभी दे चुका हूँ। बुंदेलखण्ड की कंटककाव्यधारा में उपेक्षित ऐतिहासिक युद्धों का वर्णन है। छोटे आकार के युद्धकाव्य इतिहास के उपेक्षित अध्यायों के आलेख हैं, भले ही उनका नामकरण रासो या रायसो अथवा कटक या समौ कुछ भी हो। उदाहरण के लिए 'बाघाइट कौ रायसौ' इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण गुत्थी सुलझाता है। ओड़छा और दतिया के राज्य एक ही घराने के थे और सदैव परस्पर प्रेम से रहे, किन्तु अपने-अपने जमीदारों का पक्ष लेकर संघर्ष में फँस गये। दतियानरेश पारीछत ने बाघाट के दिवान गंधर्वसिंह के विरुद्ध अपनी सेना भेजकर उसे पराजित किया, जिसका प्रमाण पोलिटिकल सुपरिण्टेण्डेण्ट, बाँदा के ४ मई एवं १६ मई, १८१६ ई. के पत्रों में मिलता है। इस छोटी ऐतिहासिक घटना का महत्त्व १८५७ ई. की क्रान्ति की पृष्ठभूमि के रूप में आँका जा सकता है क्योंकि तज्जन्य वैमनस्य के कारण ही ओड़छा ने अंग्रेजों का विरोध किया था एवं दतिया ने उनका पक्ष लिया था। राज्यों के परस्पर युद्ध और झगड़े ही स्वतंत्रता संग्राम की असफलता के प्रमुख कारण थे।

उत्कीर्ण लोकसाक्ष्यों में सबसे सटीक उदाहरण सती स्तम्भों का है और उसे डॉ. हीरालाल जैसे इतिहासकारों ने अपनाया है। प्रस्तरस्तम्भों पर लोकमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं और सबसे ऊपर दोनों कोनों की ओर सूर्य और चन्द्र अंकित हैं। एक इतिहासकार विद्वान सूर्य-चन्द्र के अभिप्राय को ठीक से नहीं समझ सके और उन्होंने उसे चंदेलों की उत्पत्ति से जोड़ दिया। उन्होंने लिखा- 'इस कथा की प्रसिद्धि कुछ पाषाण स्तंभों से भी प्रकट होती है। इनमें परस्पर हाथ पकड़े हुए स्त्री-पुरुष के दो चित्र अंकित हैं। दाहिनी और चन्द्र तथा सूर्य के चित्र हैं। किन्तु सूर्य और चन्द्र साथ-साथ उदय नहीं होते। सूर्य-चन्द्र का एक साथ अंकन संभवतः हेमवती कथा की ओर निर्देश करता है, क्योंकि उस कथा में यह उल्लेख है कि ग्रीष्म ऋतु में जब सूर्य की किरणें प्रखरतम हो रही थीं, तब भगवान चन्द्र हेमवती के सम्मुख आये।' वस्तुतः यह अभिप्राय लोकचित्रों और काष्ठ पर बनायी आकृतियों में भी प्रयुक्त होता है और लोककला की पहचान बन गया है। एरण का सतीस्तम्भ सबसे प्राचीन पाँचवी शती का है, जिसमें सेनापति गोपराज के हूणों के विरुद्ध लड़ने और मारे जाने का साक्ष्य मिलता है। बम्हनी गाँवे (निला दमोह) में एक

सती स्तम्भ पर लेख है कि 'परम भट्टारक राजधिराज वली (?) त्रयोपेत कालंजराधिपति श्रीमद् हंमीर वर्म्भदेव विजय राज्ये संवत् १३६५ समये महाराजपुत्र री बाघदेव भुञ्ज्यति अस्मिन काले वर्तमाने ब्राह्मणी ग्रामे' जिससे इतिहासकार ने स्पष्ट कर दिया है कि कुम्हारी इलाके में सिंगौरगढ़ के राजा बाघदेव का राज्य था और वह कालंजर के चंदेलनरेश हम्मीरदेव का माण्डलिक था। तत्कालीन नाटककार वत्सराज के रूपककषटकम् में सती का प्रमाण मिलता है। इस अंचल में सती स्तम्भों की भरमार है, जिनके सर्वेक्षण से इतिहास को कुछ नये तथ्य मिलेंगे।

तोमरकालीन ग्रंथों में अखाड़ों की चर्चा आई है। उनकी एक समृद्ध परम्परा पूरे बुंदेलखण्ड में रही है। आचार्य केशव ने तो अखाड़े को यानीकि संगीत, कविता, नृत्यादि कलाओं के अखाड़े को राजनीति का लक्ष्य बना दिया था- 'कियो अखारो राज को, सासन सब संगीत'। ओरछा के अखाड़े ने रीतिकाव्य को जन्म दिया था। लेकिन इसी अखाड़े की एक विनोदपूर्ण पंक्ति ने पन्नानरेश अमानसिंह को अकोड़ी की गढ़ी पर आक्रमण करने को विवश कर दिया। फल यह हुआ कि उनके बहनोईं प्रानसिंह मारे गये और उनकी बहिन के अँचरा में बहनोई का सिर गिरकर ऐसे हँसा जैसे वह भाई-बहिन के रिश्ते का उपहास कर रहा हो। दूसरी तरफ ओरछानरेश के पुत्र हरदौल ने देवर भाभी के आदर्श रिश्ते की स्थापना के लिए विषपान कर लिया था, जिसके साक्षी हैं हर गाँव-नगर में पुजते हरदौल के चबूतरे। क्या अखाड़े और चबूतरे इतिहास की वस्तु नहीं है? मेरी समझ में बुदेलखण्ड का मध्ययुगीन इतिहास इन जैसे लोकसाक्ष्यों के बिना अपूर्ण रहेगा।

महोबा के मनियाँदेव को प्रसिद्ध इतिहासकार वी.ए. स्मिथ ने मनियाँदेवी माना है और उसके आधार पर चंदेलों की उत्पत्ति आदिवा[illegible] गोंड या भर से सिद्ध कर दी है। परन्तु स्मिथ का मत इसलिए मान्य नहीं है कि मनियाँदेव मणिभद्र यक्षदेवता हैं। उन्हें (चंदेलों को) 'हिन्दआइज्ड गोंड' कहना उचित नहीं है। लोकमूर्तियों और लोकचित्रों का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। दमोह जिले के रोंड़ गाँव में सुन नदी के किनारे प्रस्तर पर अश्वारोही का चित्र अंकित है और लिखा है 'श्री बाघदेवस्य दागी बैजू संवत १३५९', जिससे बाघदेव के शासन का पता चलता है। मृण्मय मूर्तियों से तत्कालीन संस्कृति का चित्र मुखर हो जाता है।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि लोकसाक्ष्य किसी भी अंचल के इतिहास लेखन में सहायक होता है। संस्कृति का इतिहास लोकसाक्ष्यों की अनुपस्थिति में नहीं लिखा जा सकता। जन-जन या लोक की संस्कृति और इतिहास ही सही इतिहास है और वह लोकसाक्ष्यों के बिना अपूर्ण हैं। इतिहास और संस्कृति की समस्याएँ लोकसाक्ष्यों से सुलझायी जा सकती हैं। इसलिए विद्वानों से मेरा अनुरोध है कि वे लोकसाक्ष्यों को उपेक्षा की दृष्टि से न देखकर उन्हें प्रेमपूर्वक अपनाएँ। इससे हमारा इतिहास-लेखन हर पक्ष के लिए उपयोगी होगा और प्रजातन्त्र की अपेक्षाएँ पूरी करेगा।

लोकगीतों के काल-निर्धारण का प्रथम प्रयास

पिछले दशक अर्थात् जुलाई, १९८३ ई. की मासिक पत्रिका उत्तर प्रदेश में प्रकाशित मेरा लेख-'लोकगीतों का काल-निर्धारण' से स्पष्ट है कि नवें दशक के प्रारम्भ में ही मैंने लोकगीतों का इतिहास से जोड़ने का प्रयत्न किया था। काल-निर्धारण के आधार रेखांकित करते हुए उसके उदाहरण प्रस्तुत किये थे। कुछ आधारों की चर्चा यहाँ भी करूँगा। पहला आधार है भाषा-रूप। विशिष्ट शब्द और उनके रूपों से काल-खण्ड का निश्चय हो जाता है। यहाँ दो उदाहरण निम्नांकित हैं :-

– ऐसी मिजाजिन दाई, लाल को नरा न छीनैं
नरा न छींनै, मौंउ न बोलै
ठाँठ़ी औंठ विदोलै
कनैया को नरा न छीनै। ऐसी.।
– आ जैहों बड़े भोर, दईरा लैकें।
न मानो मटकी घर राखौ
सबरे बिरज कौ मोल। दईरा।
न मानो चुनरी घर राखौ
लिखे पपीरा दुइ छोर। दईरा.।

पहली पंक्ति में अरबी भाषा के मिजाज से मिजाजिन जरूर आ गया है, लेकिन दाई संस्कृत के 'धात्री' शब्द से निकला है, (फारसी दाया से नहीं) और धात्री धत्ती (प्राकृत) धाई (प्रकृत) दाई बना है। छीनै, बोलै में तिङन्तीय ऐ प्रत्यय का प्रयोग पुरानी हिन्दी का है। इसी प्रकार आजैहों में भी तिङन्तीय-ह प्रत्यय प्रयुक्त है। वर्तमान एवं भविष्यत् काल की अभिव्यक्तियों के लिए धातु रूपों में आज कृत प्रत्ययों-त और-ग का योग होता है और यह प्रयोग १६वीं शती के बाद से बढ़ा है, परन्तु उसके पहले पुरानी हिन्दी में तिङन्तीय-ऐ एवं-ह प्रत्ययों का प्रचलन था। 'लिखे ' चित्रांकन करने के अर्थ में पुराना है, इसी तरह 'दईरा' में ड़ा रा का प्रत्यंग भी। इस आधार पर दोनों लोकगीत १६वीं शती के पहले के हैं।

दूसरा आधार कथानक रूढ़ियों का है। आख्यानक लोकगीतों में तत्कालीन कथारूढ़ियों का प्रयोग मिलता है। पँवाड़ों, राछरों, गोटों, नौरता और देवी गीतों में विभन्न कथारूढियों की संयोजना मिलती है। जिस प्रकार परिनिष्ठत काव्य में प्रयुक्त कथारूढ़ियाँ मोटे तौर पर एक निश्चित कालखण्ड का आभास देती हैं, उसी प्रकार लोककाव्य की कथारूढ़ियों के संबंध में कहा जा सकता है। लोकमहाकाव्य 'आल्हा' की कथारूढ़ियों का अनुकरण मध्ययुग के रासो और वीरचरित प्रबन्धों में हुआ है।

तीसरा आधार ऐतिहासिक वस्तु, कथा एवं पात्र है। लोकगीतों में चाहे ऐतिहासिक वस्तु का उपयोग हो, चाहे कथा का और चाहे पात्र का, उनका काल-निर्णय सरल हो जाता है। उदाहरण स्वरूप हरदौल के बलिदान और पन्नानरेश अमानसिंह

से संबंधित गीत एवं राछरै संवत् १६८८ एवं १८५५ के बाद के मध्यकालीन गीत है। 'मथुरावली' लोकगाथा में सतील की रक्षा के लिए खड़े-खड़े जलने की करुण कथा मध्ययुग की त्रासदी है। पारीछत और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के युद्धपरक गीत १८४० एवं १८५७ ई. के बाद के है।

चौथा आधार लोकप्रसिद्ध घटना का वर्णन या पात्र का चित्रण है। उदाहरण के लिए, तेजबली कौ राछरो, कजरियन कौ राछरो, बिजौरा की कुँवरि की गाथा आदि हैं। तेजबली की राछरौ में तेजबलीसिंह के चिंगीगढ़ में जूझने का वर्णन है। तेजबली ऐतिहासिक नायक न होकर लोकप्रसिद्ध ही रहे। वे कोंच के बुंदेला राजा सरूपसिंह के सुपुत्र थे और उनका युद्ध इतना प्रसिद्ध हुआ कि आज भी गाया जाता है। कजरियन कौ राछरौ में चंदेलनरेश परमर्दिदेव और चौहान नरेश पृथ्वीराज चौहान, तृतीय के मध्य लगभग ११८२ ई. में हुए युद्ध का छायाभास-सा प्रतीत होता है, अतएव उसकी रचना १३वीं १४वीं शती में हुई है। बिजौरा की कुँवरि की गाथा में बिजौरा की राजकुमारी जब पानी भरने कुआँ में जाती है, तब पठान उसे अपहृत करने के लिए हाथ बढ़ाता है, पर राजकुमारी कुएँ में समा जाती है। यह गाथा सुल्तनत-काल में रची गयी है और यह जाबर के चंदेरी पर आक्रमण पर चंदेरी के जौहर के बाद की है।

तत्कालीन लोकसंस्कृति से संबद्ध शब्दों के प्रयोग से भी काल-निर्धारण किया जा सकता है। एक उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है। पंक्तियाँ निम्नांकित हैं:-

नजर भर हेरत काये नइयाँ?
हम तो राजा पिया बन की हिरनियाँ,
तुम ठाकुर के लरिका,
तुपक तीर मारत काये नइ़याँ? नजर.।

तुरक शब्द से यह गीत 'तुवक' के प्रचलन के बाद का ठहरता है, पर तुपक और तीर, दो शस्त्रों का प्रयोग उचित नहीं है। तुपक रूपान्तरित शब्द है, उसकी जगह 'तमक' (आवेग से) होना सही है, जो अगली पंक्ति के मेल में है। पंक्ति देखें :-

हम तो राजा पिया जल की मछरिया,
तुम ढीमर के लरिका,
झमक जाल डारत काये नइयाँ?

एक दूसरा उदाहरण देखें :-

चन्दन खौरें हरि जू खों सो है,
टिपकिन बीच हँसे। चलो आउत.।
नैनन सुरमा हरि जू खों सोहै,
भौंहन बीच हँसे। चलो आउत.।

उक्त उदाहरण में 'सुरमा' मध्यकाल का प्रसाधन है, जो उसे मध्यकालीन रचना सिद्ध करता हैं। मेरी समझ में 'कजरा' की जगह 'सुरमा' हो गया है, जिसके कारण यह गीत मध्यकालीन प्रतीत होता है। एक तीसरा उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

आँगें आँगें बछरा पाछें सुरहिन, दोऊ मिल वनखों जायँ हो मायँ।
इक बन चालीं दुजवन चालीं, तिज वन पौंची जाय हो मायँ।

दूरी का माप 'बन' पुराना है, इसलिए इस लोकगाथा की रचना ९वीं १०वीं शती में हुई है। इन उदाहरणों से स्वयंसिद्ध है कि लोकगीतों और लोकगाथाओं के रचना-काल का निर्धारण किया जा सकता है।

एक और लोकसाक्ष्य

यदि किसी भी देश या जनपद का इतिहास परखनली से परखा जाय, तो यह निश्चित हो जाता है कि वह किसी बादशाह या राजा के युद्धों का इतिहास है, तत्कालीन जनता का इतिहास नहीं। यह बात अलग है कि इसी सोच से प्रेरणा पाकर अब राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के द्वारा सांस्कृतिक इतिहास का रेखांकन करने के प्रयास हो रहे हैं। वैसे जनता का सच्चा इतिहास, लोकसाक्ष्यों के आधार पर ही लिखा जा सकता है, जिन्हें इतिहास तो मान्यता प्रदान नहीं करता, लेकिन लोकसाक्ष्य परम्परा से चले आते हैं और सत्य का बीज छिपाये रहते हैं। लोकसाक्ष्यों में सबसे प्रमुख तत्कालीन लोकगीत और लोकगाथाएँ है, जो तत्कालीन लोकवियों द्वारा रची जाती हैं और लोकप्रचलन में आकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती हैं। ये रचनाएँ तभी रची जाती है, जब कोई घटना घटित होकर लोक तक पहुँचती है। इस कारण इनमें ही जनपद का सच्चा इतिहास छिपा रहता है। साथ ही तत्कालीन लोकसंस्कृति भी बिम्बित होती है।

बुंदेलखण्ड के इतिहास का सांस्कृतिक मूल चंदेल-काल है, क्योंकि बुंदेलखण्ड की संस्कृति की संरचना चन्देल काल में हुई थी। बुंदेली लोकभाषा का उद्भव और विकास भी इसी समय हुआ था। वस्तुतः यह समृद्धि और शान्ति का युग था, क्योंकि चंदेलों की शक्ति का लोहा महमूद गजनवी तक मानता था। साँभर के चौहानों ने आल्हा की वीरता देखी थी और इसीलिए वे अपनी पुत्री बेला का विवाह आल्हा से करना चाहते थे, पर आल्हा ने चंदेल युवराज ब्रहमा को ही इस योग्य समझा था। चंदेलनरेश धंग और गण्ठ इतने शक्तिशाली थे कि युवराज विद्याधर की चंदेल सेवा देखकर महमूद ग़ज़नवी को आगे बढ़कर जूझने का साहस नहीं हुआ।

बुंदेली की पहली रचना चंदेलनरेश गण्ड द्वारा रची गयी थी, जो इतिहासकार गर्दिजी द्वारा 'लुग़त-ए-हिन्दवी' कही गयी है। हिन्दवी का अर्थ हिन्द की हिन्दी यानी बुंदेली मानी जाना उचित है। उसके डेढ़ सौ वर्ष बाद जगनिक भाट ने लोकमहाकाव्य 'आल्हा' की रचना की थी। वैसे १०वीं शती के अंत से दिवारी गीत, सखयाऊ फाग और देवीपरक लोकगीत रचे जाने लगे थे। उनका आधार अपभ्रंश का दूहा (दोहा) और प्राकृत की गाहा (गाथा) थी। दोहा के आधार पर दिवारी गीत, सखयाऊ फाग एवं राई गीत रचे गये और गाहा के आधार पर देवीगीत। अमेरिका की शोधछात्रा ने आल्हा के 'आल्ह' छंद की चौपाई से

निस्सृत माना था, तब मैंने उसे कहा था कि '१२वीं शती का लोककवि जगनिक भाट १६वीं शती की चौपाई का उपयोग करेगा या १०वीं -११वीं शती के देवीपरक लोकगीतों का। अगर देवीपरक गीतों से 'हो माँ' के अंतिम दीर्घों को हो माँय पढ़ने से एक पंक्ति आल्ह छंद बन जाती है, उदाहरण के लिए, देवीपरक गीतों की कुछ पंक्तियाँ देखें :-

लिख लिख पातियाँ भेजी राम ने, तुम दुरगा चली आव हो माय।
खट खट खट खट तेगा ब्यालै, छपक छपक ब्यालै तखार।

दिवारी गीत और कारसदेव की लोकगाथा में अहीरों और गूजरों की चरागाही संस्कृति प्रतिबिम्बत हुई है। साथ ही कारसदेव का ओजस्वी संघर्षशील व्यक्तित्व अपनी छाप छोड़ता है। देवीपरक लोकगाथाओं और राछरों में ओजस्विनी वीरता की अभिव्यक्ति हुई, जिससे भक्ति भी वीररसात्मक हो गयी है। लोकगाथात्मक लोकमहाकाव्य 'आल्हा' तो वीरता के औदात्य की साकार मूर्ति है। विशेषता यह है कि व्यक्तिगत वीरता वैयक्तिकता की देहरी लाँघकर सार्वभौमिक और सार्वकालिक बन गयी है। विदेशी आक्रमणकारियों के हमलों से संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए उसकी प्रासंगिकता पहले तो थी ही, आज भी है।

भक्तिपरक लोकगीतों ने आस्था और विश्वास को दृढ़ किया, जबकि संस्कारपरक ने संस्कारों को नई ताजगी और मजबूती दी। संस्कारों की कट्टरता ने भी संस्कृति को सुरक्षा दी थी। 'आल्हा' में भी लोकसंस्कारों को आश्रय मिला है। एपनबारी देने के लिए रूपन या रूपना को कई संघर्ष लड़ने पड़े, परन्तु उसकी आशा डिगी नहीं। शृंगारपरक और वैविध्यपरक गीतों में भी संस्कृति के दृश्यों के बिम्ब प्रयुक्त हुए हैं। तात्पर्य यह है कि लोकगीतों ने ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुकूल लोकसंस्कृति बुनी है।

एक विचित्रता यह है कि लोकगाथाओं और राछरो ने इतिहास को भी अंकित किया है और जो इतिहास में नहीं है, उसे ऐतिहासिकता प्रदान की है। उदाहरण के लिए, लोकमहाकाव्य 'आल्हा' को रखा जा सकता है, जिसमें दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान, तृतीय ने चंदेलनरेश परमार (परमर्दिदेव) पर राजराजेश्वर की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर आक्रमण किया था। उरईनरेश माहिल ने उन्हें यह भी बता दिया था कि महोबा के वीर आल्हा-ऊदल अब कान्यकुब्ज में बसे गये हैं। महोबा को सूना पाकर उसने चारों ओर से किले को घेर लिया था। इस युद्ध को इतिहासकार चिन्तामणि विनायक वैद्य ने एक राष्ट्रीय क्षति माना है,[६] क्योंकि आपस के युद्ध से विदेशी आक्रमणकारी फायदा ले रहे थे। अगर चंदेलों और चौहानों की शक्ति जुड़कर एक हो जाती, तो भारत में आक्रमणकारियों का शासन असंभव था। चंदेलनरेश धंग और 'गण्ड' ने विदेशी आक्रमण के खिलाफ कई राजाओं का एक संघ बनवाया था।[७]

मध्यकाल में भक्तिपरक लोकगीतों और लोकगाथाओं की रचना पहले हुई, जिसके फलस्वरूप लोक में संकल्पधर्मी दृढ़ता आयी और 'पत' की रक्षा की

चिन्ता हुई। 'पत राखियो बारे जन की' के निवेदन से यह चिन्ता बिल्कुल स्पष्ट है। मुझे एक देवीपरक लोकगाथा प्राप्त हुई, जिसमें देवी और मुगल बादशाह अकबर के युद्ध का वर्णन है। स्पष्ट है कि अकबर की हिन्दुओं के प्रति उदारता की नीति दरबार और आश्रित सामन्तों तक ही सीमित थी, परन्तु लोक में उसके प्रति विश्वास न था। भक्तिपरक लोकगीतों में संस्कारों का स्पष्ट वर्णन है, विवाह-संस्कार के गीत एकपत्नीव्रत राम से बँधे हैं, जबकि प्रेमपरक और प्रेम-क्रीड़ाओं के वर्णन कृष्ण के जीवन से संबद्ध हैं। इन गीतों में एक विशेषता है कि पुत्र का जन्म चाहे धोबी के हो या चमार के, वह या तो राम है या कृष्ण। इस प्रकार हर पुत्र रामकृष्ण है, तो हर माता कौशिल्या या यशोधा और हर पिता दशरथ या नन्द है। साथ ही हर पत्नी सीता या राधा है। एक लोकगीत में परिवार के सदस्यों की वांछा इस प्रकार से की गयी है -

> राजा जनक से बाबुल दइयो, रानी सुनैना सी मैया दइयो।
> लच्छमीचंद से भैया दइयो, तुलसा सी भौजाई दइयो।
> राजा दशरथ से ससुरा दइयो, रानी कौसिल्या सी सासो दइयो।
> रामचन्द्र से पति मोये दइयो, लच्छमन से देवरा मोये दइयो॥

इस प्रकार जहाँ हर पुत्र को राम-कृण मानकर एकता चाही गयी है, वहाँ एक आदर्श परिवार की प्रतिष्ठा भी की है। सांस्कृतिक एकता और आदर्श का प्रतिमान कितना उपयुक्त है।

मुझे अभी एक लोकगाथा- 'बिजौरा की कुँवरि की गाथा' मिली है, जो अभी तक अज्ञात थी। इस गाथा से चंदेरी के इतिहास की एक पर्त खुलती है, जो निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है -

> तैं का जानै या भुम्मि की आन
> तैंने देखे का जौहर बिसेख?
> धरम कोंई चंदेरी की अस्सी हजार छतैंनिन्नें काटे सपूत,
> औ ठाँड़ी जरीं चंदेरी की मैंठें संवार, और का सुनकें करहौ पठान?

अभी तक क्षत्राणियों के जौहर का इतिहास था, पर क्षत्राणियों ने अपने सपूतों को अपने हाथों से काटा था और तब जौहर किया था, यह तथ्य इतिहास में गुप्त रहा, जबकि लोकसाक्ष्य से प्रकट हो गया। बिजौरा की राजकुमारी बेला मैहर के पठान के हाथ बढ़ाते ही कुआँ में समा गयी थी। मुस्लिम और मुगल-काल में नारी का अपहरण एक समस्या बन गयी थी, जिसके कारण मथुरावली खड़ी-खड़ी जल गयी थी। मानो गूजरी गाथा में मानो का अपहरण होने वाला था कि उसके पति ने मुगलों को मार डाला और उनके शव उस पार लगा दिये। 'जगदेव का पुआँरा' में राजा जगदेव की राजकुमारी को मुगल सुल्तान ब्याहना चाहता था, पर देवी के वरदान से राजा ने शत्रुसेना काट डाली। बुंदेलों की लाज बची गयी। रानी दुर्गावती की गाथा में दुर्गावती के बलिदान होने की कथा है।

राछरों की परम्परा चंदेल-काल से ही प्रारम्भ होती है। उस समय 'कजरियन कौ राछरौ' प्रचलन में था पर वह चंदेलों के अंतिम समय १३वीं -१४वीं शती का

ठहरता है। उसमें एक भाई द्वारा कजरियाँ खोंटने में युद्ध का वर्णन है। मध्यकाल के कई राछरे मिले हैं - उरग की चाकरी, उरई की चाकरी, गोरीधन कौ राछरौ, अमानसिंह कौ राछरौ, राजा अमान कौ राछरौ, आनवली कौ राछरौ, प्रानसिंह कौ राछरौ। उरग और उरई की चाकरी के दोनों राछरे एक ही प्रकार की कथा से बँधे हैं। पहले में फौजी की पत्नी को देवर मार डालता है। फौजी के घर लौटने पर पत्नी के दिखाई न देने पर तमाम बहाने बनाये जाते हैं, पर फौजी को जब पता लगता है, तब वह वैराग्य अपना लेता है। दूसरे में, शत्रुओं द्वारा फौजी मारा जाता है और उनके भ्राता के खोजने पर कहीं कभी कोई नहीं मिलता।

'गोरी धन कौ राछरौ' में एक जोगी छल से गोरी का अपहरण करता है और जब वह भेद खोलता है, तब गोरी अपनी हत्या कर लेती है। अमानसिंह के राछरे में पन्नानरेश अमानसिंह (१७५२-५८ ई.) का राज्यकाल केवल ६-७ वर्ष का था, पर उनकी उदारता और हठ, दोनों ने मिलकर उन्हें लोकनायकत्व प्रदान कर दिया था। राछरे के अंत में राजा अमानसिंह और प्रानसिंह का युद्ध-वर्णन है, जिसमें प्रानसिंह के अंत पर उनकी पत्नी सती होने के उभार में कथा का अंत हो जाता है। चौपड़ खेलने में कहा-सुनी हो गयी। दासी-पुत्र कहने पर अमानसिंह ने उत्तर दिया कि 'हम असल बंदेला होंगे, तो धँधेरे का सिर काट लेंगे।' दूसरे पाठ-'हम असल बुंदेला होंगे, तो धँधेरे का सिर काट लेंगे।' दूसरे पाठ-'राजा अमान कौ राछरौ' में अमानसिंह चौपड़ खेलने का प्रस्ताव करते हैं और प्रानवली का राज्य चौपड़ के द्वारा जीतना चाहते हैं। प्रानवली उत्तर देती हैं- 'तुम का राज जीत हौ सारे, तुम चेरी के पूत।' दासी-पुत्र कहने पर युद्ध हुआ और अमानसिंह ने प्रानवली का सिर काट लिया। बहिन ने पन्ना जाने से मनाकर दिया और अपने पति संग जलना स्वीकार किया। 'प्रानवली कौ राछरौ' में प्रानवली के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाया गया है, जब वे अमानसिंह के सामने आकर बोलते हैं कि 'सबकी जानें जिन लेव, मुझे मार डालो।' अमानसिंह ने बड़ा घटिया काम किया कि प्रानसिंह को मार डाला। प्रानसिंह त्यागीवीर की तरह खड़ा रहा और उसने अपना सिर कटवा लिया।

उत्तरमध्ययुग के रूढ़ियों से बँधे शृंगारिक काव्य की प्रतिक्रिया में लोकसहज शृंगार के लोकगीत प्रचलित हुए, जिससे सौन्दर्य का लोकसुलभ रूप निखर उठा। कुछ उदाहरण देखें -

> कजरवा तैंने काये खों दये रे,
> काये खों दये रे, तोरे ऊसई लगनियाँ दोइ नैन रे, कजरवा अरे हो.......।
> चन्दावरन वर मिल गये, सूरज-से मिल गये जेठ।
> बिजुरी-सी चमकत ननदी मिली, बेंला चमकत चारऊँ देस॥
> भौंरा भनन भनन भन्नाय, भौंरा को मन कलियन पै॥
> उड़ भौंरा घुँघटा पै बैठो, गलुअन कौ रस लेय, भौंरा कौ मन कलियन पै॥
> करों कौन जतन अरी मेरी सखी, मोरे नैनन में बरसै बदरिया।
> उठी काली घटा बादल गरजे, चली सीतल पवन मोराजी लरजे,

ती पिया मिलन की आस सखी, परदेस गये मोरे साँवरिया ॥

उक्त शृंगारिक पंक्तियों में जो शृंगारिकता है, उसमें चन्दा, सूरज, बिजली, भँवर, बदली आदि प्राकृतिक उपमानों और प्रतीकों का उपयोग किया है।

१८४० ई. से १८५७ ई. तक सैरें और लावनियाँ रची गयीं, जिनसे वीररसात्मक घटनाएँ अभिव्यक्ति का केन्द्र बनीं और उन्हें हरबोलों ने गा-गाकर प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम के लिए जन-जन को प्रेरित और जाग्रत किया। 'पारीछत कौ कटक', 'झाँसी कौ कटक' आदि युद्धों के वर्णन के प्रबंध थे। हल्ला का अर्थ है - आक्रमण और छावनी का सेना की छावनी।

आधुनिक काल को तीन कालखण्डों में विभाजित किया जा सकता है - एक पुनरुत्थान काल, जिसमें ब्राह्म समाज, आर्य समाज आदि सुधारवादी संस्थाओं ने सामाजिक, शैक्षणिक और जातिपरक सुधारों को लागू करने का आग्रह किया। आर्य समाजे शिक्षा-संस्था में सुधार के लिए अपने विद्यालय और महाविद्यालय संचालित करने लगे। महर्षि दयानंद स्वामी, रामकृष्ण और स्वामी विवेकानंद ने भारतीय संस्कृति पर काफी प्रभाव डाला था। सामाजिक कुरीतियों का निदर्शन, उनकी भर्त्सना और उनके उपचार के प्रयत्न हुए। बाल एवं अनमेल विवाहों के विरोध और विधवा विवाह के समर्थन के कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं -

पतरी कमर लामे केस, झुकें जैसे नागिनिया।
का कर डारों माई बाप कों, बारे में कर दीनो गीतो।
का कर डारों अपने पतिखों, बारे में जोड़ी मोसे प्रीते।
का कर डारों अपने ईसुर कों, बारे में दीनौ हमें लल्ला।
नाहक गौने दये मोरे बाबा, बालक कंत हमार रे।
पाँच बरस की मोरी लड़लड़ी, अस्सी बरस के दमाद।
आँगन किचकिच, भीतर किचकिच, बुढ़ऊ गिरे मौं बाया।

पुनरुत्थान-काल (१८६५-१९२० ई.) में जन-जागरण की भूमिका बन चुकी थी, जिसकी पीठ पर चढ़कर आया आन्दोलन-काल (१९२०-१९४७ ई.), जिसमें अंग्रेजी सत्ता से संघर्ष जारी रहा। वैसे कांग्रेस का जन्म पहेले ही हो चुका था, पर राष्ट्रीयता की चेतना में उफान नहीं आया था। वह तभी आया, जब लोकगीतों ने गाकर ऊर्जा पैदा की। कुछ लोकगीतों की रचनात्मक प्रवृत्ति देखें -

गांधी एक महत्मा उपजे, कलजुग में औतारी बे, कै हाँ-हाँबे, कै हूँ -हूँ बे।
तिनकी तिरिया पतिबरता भई, कस्तूरी जग जानें बे, कै.।
चरखा संग रमाई धूनी, दोई मानस उपकारी बे, कै.।
साँची बात धरम की जानी, सोइ अहिंसा ठानी बे, कै.।
मरद लुगाई लड़ी लड़ाई, सत्याग्रह सो जानी बे, कै.।
अंगरेजन सों जबर जोर भई, हार उनइँ नें मानी बे, कै.।
गांधीजी महाराज महत्मा, नोरो बनरा मोह लिया।
मोह लिया भरमाइ लिया, खादी से सजवाइ दिया।
हाँत तिरंगा झंडा दै दै, सत्याग्रह करवाइ दिया।

हुकुम गान्धी का निभाओ प्यारी बन्नी
मोरी बन्नी पैरो स्वदेसी साड़ियाँ।
बिदेसी को अगिनी में जराओ प्यारी बन्नी।

संघर्ष को वाणी देने वाले लोकगीत भी प्रचलन में थे, कुछ की बानगी देखें –

कित्तर के घरबार बिक गये, कित्तन खाईं गोलीं।
कित्ते हँस-हँस झूला झूले, फाँसी के झूलनवा।
मैया तोरे कारन हो, बापू तोरे कारन हो।
चना जोर गरम बाबू, मैं लाओ मजेदार। चना.।
चना जो गाँधी जू ने खाया, जाकें डण्डी नोंन बनाया,
सत्याग्रह संग्राम चलाया, चना जोर गरम।
तुम भी चना चबेना खाओ, खाकें गांधीजी बन जाओ,
अंगरेजन खाँ मार भगाओ, चना जोर गरम।

गणतंत्र-काल (१९४७-२००० ई.) में निर्माण की साधना मिलती है। अब अनेकता में एकता और विभिन्नताओं में समानता की खोज जरूरी हो गयी थी। विज्ञानी बौद्धिकता, भौतिकता, गरीबी, बेरोजगारी, प्रदूषण, साम्प्रदायिकता आदि समस्याओं के उपचार के लिए लोकसंस्कृति ने भावप्रवणता, आध्यात्मिकता, समृद्धि के स्रोत, पर्यावरण, सर्वधर्मसमभाव आदि की दवाओं से इलाज करने का प्रयत्न किया है। कुछ उदाहरण देखें –

अब पूजी अपनी आस, देस में आजादी पायी।
अब न लड़ाई करियो रसिया, अपनो धरम गँवायी। देस नें.।
हिलमिल रहियो अब तो रसिया, सबखाँ गले लगायी। देस नें.।
एक पेड़ मथुरा जमो, डार गई जगन्नाथ।
फूल तो फूलो द्वारका, फल लागो रे बद्रीनाथ॥
मालगुजारी लम्बरदारी राजा दये बिराजरे।
कांग्रेस के राज में भये घर घर के सरदार रे॥[८]

संदर्भ-संकेत

१. रुक्मिणीहरण, वत्सराज, पृ. ३८।

२. पारीछत कौ कटक और उसे ऐतिहासिक संकेत, डॉ. नर्मदा प्रसार गुप्त, भारतीय इतिहास के कुछ पहलू, डॉ. भगवानदास गुप्त स्मृति ग्रंथ, पृ. ३०० में पूरे पाठ का सम्पादन इस लेखक द्वारा किया गया हैं।

३. जे.ए. एस.बी. १८७७ पृ. २३४-३५ एवं १८६८ पृ. १८६

४. मेरा लेख- लोकदेवता हरदौल, बुंदेलखण्ड की लोकसंस्कृति का इतिहास, नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. ३१३

५. मेरा लेख- महोबा के मनियाँ देव यक्ष देवता हैं, जर्नल ऑफ दि मध्य प्रदेश इतिहास

परिषद, नं. १४, १९८९, पृ. ८१

६. हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृ. १८३

७. चन्देल और उनका राजत्वकाल, केशवचंद्र मिश्र, १७८-१७९

८. संदर्भ -संकेत क्र. २

९. विस्तृत विवेचन` लिए देखें- मेरी पुस्तक 'बुंदेलखण्ड का लोकसाहित्य: परम्परा और इतिहास', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली- ११०००२

पाँच राजस्थानी लोक गीत

(१)

वालो लागै छै म्हारो देसड़ो, अे लो

वालो लागै छै म्हारो देसड़ो, अे लो
केम कर जाऊँ परदेस, वाला जो
ऊँचा-ऊँचा राणेजी रा गोखड़ा, अे लो
नीचे म्हारे पीछोले री पाल, वाला जो
बादल छाया देस में, अे लो
नदियाँ नीर हिलोहिल रे
बादल चमके बीजली
चमक-चमक झड़ लाय
सरवर पाणीड़े ने में गयी, अे लो
भीजै म्हारे सालूड़े री कोर, वाला जो
वालो लागै छै म्हांरो देसड़ो, अे लो
केम कर जाऊंपरदेस, वाला जो

('ऊँचा राणा जी रा गोखड़ा, नीचे पीछोला री पाल गीत' मेवाड़ क्षेत्र में काफी लोकप्रिय है। इस गीत के माध्यम से नायिका का अपनी भूमि के प्रति प्रेम लक्षित होता है।)

प्यारा लगता है मुझे मेरा देश

प्यारा लगता है मुझे मेरा देश, सुनो!
मैं क्यों जाऊ परदेश, प्रिय हैं मुझे
ऊँचे-ऊँचे राणाजी के गोखड़े (गवाक्ष)
नीचे मेरे पीछोले की पाल
बादल छाये हैं देश में, सुनो
नदियों में पानी हिलोरे ले रहा है
बादलों में चमक रही है बिजली
चमक-चमक कर यह वर्षा की
झड़ी लगा देगी
मैं तालाब पर पानी भरने गई, सुनो
भीगता है मेरी ओढनी का पल्लू, सुनो

क्यों जाऊं मैं परदेश,
प्रिय है मुझे यह अपना देश।

(२)

उड़-उड़ रे म्हारां काला काग

उड़-उड़ रे म्हांरा काला काग
जै म्हांरो पिवजी आवै।
खीर-खांड रो थनै थाल परोसूँ
थारी सोने चोंच मंढाऊं, रे कागा
कद म्हांरो मारूजी आवै।
पगल्यां में थारे बांधू घूघरा
गले में हार पहराऊँ, रे कागा
कद महांरो पिवजी आवै।
जे थूं उड नै सूण बतावै, तो थारो
जलम-जलम गुण गाऊं, रे कागा
कद म्हांरो मारूजी आवै।
उड़-उड़, रे म्हांरा काला काग
जे म्हांरो पिवजी आवै।

(नायिका कौए को उड़ा कर अपने प्रियतम के आगमन का शगुन चाहती है। वह कौए को कई प्रकार के प्रलोभन देती है। ऐसी मान्यता है कि यदि कौआ उड़ जाता है तो प्रिय व्यक्ति का आगमन होता है।)

उड़-उड़ रे मेरे काले काग

उड़-उड़ रे मेरे काले काग
यदि मेरे प्रियतम आने वाले हों
खीर और शक्कर का थाल परोसूंगी तुझे
सोने से तेरी चोंच मढवाऊंगी रे काग।
मेरे प्रियतम घर कब आएंगे?
तेरे पैरों में बांधूगी घुंघरू
गले में पहनाऊंगी हार, रे काग
कब मेरे प्रियतम घर आएंगे?
यदि तू उड़ कर सगुन बता दे तो
जन्म-जन्म तेरे गुण गाऊंगी रे काग
कब मेरे प्रियतम घर आएंगे?

उड़-उड़ रे मेरे काले काग
यदि मेरे प्रियतम आने वाले हों।

(३)

सहेल्यां अे आंबो मोरियो

मधुवन रो अे आंबो मोरियो
ओ तो पसस्यो अे सारी मारवाड़ !
सहेल्यां अे आंबो मोरियो
बहू रिमझिम महलां सूं ऊतरी
आ तो कर सोला सिणगार।
सहेल्यां अे आंबो मोरियो
सासूजी पूछ्यो अे बहू, थारो
गहणो म्हांने पहर दिखाव।
सहेल्यां अे बांबो मोरियो
म्हांरा सुसरोजी गढ़रा राजवी
सासूजी म्हांरा रतन-भंडार।
सहेल्यां अे आंबो मोरियो
म्हांरा जेठजी बाजूबंद बांकरा
जेठनी म्हांरी बाजूबंद री लूम्ब
सहेल्यां अे आंबो मोरियो
म्हांरो देवर चुड़लो दांत रो
देरांणी म्हांरी चुड़ले री मजीठ।
सहेल्यां अे आंबो मोरियो !
म्हांरो कंबर घर रो चानणो
कुल-बहू अे दिवले री जोत।
सहेल्यां अे आंबो मोरियो
म्हांरी धीय' ज हाथ री मूँदड़ी
जंवाई म्हरि चंपेली रो फूल।
सहेल्यां अे आंबो मोरियो !
म्हांरी नणद कसूमल कांचली
नणदोई म्हरि गजमोत्यां रो हार।
सहेल्यां अे आंबो मोरियो
म्हांरो साहब सिर रो सेवरो
सायबणी म्हें तो सेजां रो सिणगार !
सहेल्यां अे आंबो मोरियो
म्हें तो वास्या, अे बहूजी, थांरा बोल नै

लडायौ म्हांरो सै परवार।
सहेल्यां ऐ आंबो मोरियो
म्हें तो वास्याजी, सासूजी, थांरी कोख नै
थे तो जाया अरजण-भीम।
सहेल्यां ऐ आंबो मोरियो!

(नववधू अपने ससुराल में है। वसन्त ऋतु है। आमों में मंजरियां आ गई है संवाद शैली में पारिवारिक माधुर्य दृष्टव्य है।)

सहेलियो री, आमों में मोर आ गए हैं

मधुवन के आमों में बोर आ गए हैं
यह तो पसर गया है री सारे मारवाड़ में
सहेलियों री, आमों में मोर आ गए हैं
बहू सोलह सिंगार कर
रिमझिम करती महलों से उतरी
सहेलियों, आमों में मोर आ गए हैं
सासू जी ने पूछा - ए बहू!
अपने आभूषण पहन कर मुझे दिखाओ
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं
मेरे ससुर गढ़ के राजा हैं
सासू जी मेरी हैं रत्नों का भंडार
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं
मेरे जेठ जी हैं बांके बाजूबंद
जिठानी मेरी हैं बाजूबंद की लूंब
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं।
मेरा देवर चुड़ला है हाथी दांत का
देवरानी मेरी है चुड़ले की लालिमा
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं
मेरा पुत्र घर का प्रकाश है
कुल बहू है दीये की जोत
सहेलियों आमों में मोर आ गए हैं।
मेरी पुत्री हाथ की अंगूठी है
दामाद मेरा है चमेली का फूल
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं।

मेरी ननद कसूमल रंग की कंचुकी
ननदोई मेरे गजमोतियों का हार
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं।
मेरे प्रियतम सिर का सेहरा हैं
प्रियतमा मैं, उनकी सेजों की शृंगार।
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं।
मैं तो निछावर हूं री बहू
तुम्हारे बोलों पर
सराहा है तुमने मेरा सारा परिवार
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं।
मैं तो निछावर हूं सासू जी
तुम्हारी कोख पर
तुमने जो जाये अर्जुन–भीम।
सहेलियो! आमों में मोर आ गए हैं।

(४)

ओ लाडो बेटी, जाय घरां

म्हांरो पींडो रीतो, ओ बाबल;
कूण भरैला थारी धीय बिना?
थारी भाभ्यां भरैला थारो पींडो,
लाडो बेटी, जाय घरां।
म्हांरो गोबर ग्वाड पसर्यो, बो बाबल,
कूण उठासी थांरी धीय बिना?
थारी भाभ्यां उठासी, थारो गोबर,
लाडो बेटी जाय, घरां।
म्हांरो दही पडयो बिना बिलोयां,
कूण बिलोवसी, बाबल, थांरी धीय बिना?
घारी भाभ्यां थारो दही अे विलोसी,
लाडो बेटी, जाय घरां।
म्हारी गाय बंधी छै ठांण
कूण खोलैगो, वाबल, थांरी धीय बिना?
थारो भाई खोलसी थारी गाय,
लाडो बेटी, जाय घरां।
म्हारा बाछा रमै छै गो–ठांण,
कूण चुंघावै, बाबल, थांरी धीय बिना?

गतिवान और रक्तप्रवाह को बढ़ा देने वाला होता है।

चंग

होली के अवसर पर, हर गाने वाली टोली के पास, एक गोलाकार, एक ओर मँढ़ा हुआ वाद्य रहता है– इसे चंग कहते हैं। चंग की सब से प्रिय ताल कहरवा है। कहरवे के सुन्दर और गतिवान बोल, चंग को अत्यंत मधुर और आकर्षक बना देते हैं। चंग को बांये हाथ में उठाकर, हथेली पर जमा लिया जाता है। बांये हाथ की अंगुली में लकड़ी की एक चींप रहती है और दाहिने हाथ से उस पर बोल निकाले जाते हैं। चंग पर भेड का चमडा काम में लिया जाता है।

दफड़ा

चंग से कुछ छोटा होता है।

डफ

उत्तर प्रदेश में चलने वाले चंग का ही एक रूप। भरतपुर और अलवर में डफ का प्रयोग भी होता है।

चंगड़ी

आकार में चंग से छोटी होती है और चंग की ही तरह, भेड़ की खाल से मँढ़ी होती है; लेकिन इसकी लकड़ी में पीतल व काँसे के घूघरे और झीझे लगे होते हैं। झणकार की आवाज, इसका विशेष सौन्दर्य है।

खंजरी

एक ओर से मँढ़ी हुई होती है। बकरे का चमड़ा काम में लिया जाता है। भिखारी अपने गाने के साथ बजाते हैं। कभी–कभी ढोलक के साथ भी बजाते हैं। इस पर भी चंग की तरह बजाया जाता है, लेकिन अंगुली या हथेली के भाग को चमड़े पर टिकाया नहीं जाता। भजन में इसका विशेष प्रयोग होता है।

ढीबको

गोडवाड़ की ओर का चंग जैसा वाद्य।

अपंग

यह एक तार का, केवल ताल–वाद्य है। इस पर बहुत ही सुन्दर ढंग से, ताल–वाद्यों के बोल निकाले जाते हैं। इसकी बनावट इस प्रकार होती है: एक बड़े डालडा जैसे डिब्बे के खाली पैंदे में चमड़ा मँढ़ दिया जाता है। डिब्बे पर एक दो–ढाई फीट का बांस लगा दिया जाता है। इस पर एक खूंटी लगा दी जाती है, जिस पर कि तार रहता है। तार का दूसरा सिरा चमड़े पर होता है। एक हाथ से खूँटी को कसा जाता है या ढीला किया जाता है और दूसरे हाथ से तार पर, ताल के बोलों को बजाया जाता है। इससे ताल की गति तो स्पष्ट समझ में आती ही है, साथ ही, तार के खिंचाव और ढिलाव से, घोष में सौन्दर्य भी आ जाता है। इसकी

आवाज भी बहुत तीव्र होती है।

मटकी

मटकी को खाली हाथ व हाथ में कंकर लेकर चटकारि से भी बजाया जाता है और कहीं-कहीं इसे बकरे के चमड़े से एक ओर मंढ़ कर भी बजाते हैं। कुछ लोग मटकी के मुंह पर ही थाप देकर काम निकाल लेते हैं। इसे राजस्थान में माट, माटो, चाडो आदि भी कहते हैं। यह सर्व-सुलभ ताल-वाद्य है।

डमरू

मदारियों के पास देखा जा सकता है। एक हाथ में छोटे से आकार का यह डमरू, दोनों ओर से मंढा होता है और बीच के पतले हिस्से पर दो डोरियां बंधी रहती हैं, जिनके किनारों पर मोम की छोटी गोलियां रहती हैं। बीच से पकड़ कर, हाथ के आधे हिलाने से वे मोम की गोलियां चमड़े पर पड़ती हैं और उनसे ध्वनि निसृत होती है। इसमें एक गति का ही क्रम अथवा लय की अनुभूति होती है। डमरू भी दो-तीन प्रकार के होते हैं।

आधे साज

ताल देने के लिए, एक ही प्रकार की आवृत्ति से बजने वाले वाद्यों को 'आधा साज' माना जाता है। क्योंकि 'ताल' देने की क्षमता तो इनमें है, लेकिन 'स्वर' देने की शक्ति नहीं है। फिरभी अपने आप में ये मधुर होते हैं। इसमें हम मुख्यतया मजीरों, तासला और झांझ को ले सकते हैं। ये तीनों मजीरों के ही बड़े मंझले और बिचले स्वरूप के नाम हैं। ये तीनों प्रकार के 'मजीरे' कांसी व पीतल के मिश्रण से बनते हैं। डूंगरपुर में भी मजीरों को बजाने की एक विशेष पद्धति चालू है। इसे लोग तेराताली कहते हैं। सिर से पांव तक, स्थान-स्थान पर मजीरें बंधे रहते हैं और भजन गाते समय, क्रम से उन पर हाथ वाले मजीरें से आघात किया जाता है। विभिन्न मजीरों के इस क्रम के कारण, दो मजीरों की आवाज से यह भिन्न प्रभाव देते हैं।

कांसी की थाली और कांसी की तासक भी होती है। इन आधे वाद्यों का महत्त्व बहुत देर तक गूंजती रहने वाली झनकार है। यह मन्दिरों में आरती के समय विशेष तौर पर काम में ली जाती है।

मन्दिरों में विभिन्न प्रकार की आवाजों को एकत्रित करने के लिए घंटा, झालर, टकोरो, वीर घंट, घडियाल आदि भी प्रयोग किए जाते हैं।

इन्हीं वाद्यों में, घूघरों के प्रकारों को भी ले लेना चाहिये। कांसी और पीतल के मिश्रण से अच्छे घूघरे बनते हैं। छोटे-छोटे आकार के घूघरों को रमजोल कहते हैं। नाच में अधिकतर रमजोलें स्त्रियां पहनती हैं। भोपे साधु अपनी कमर में बहुत बड़े-बड़े आकार के घूघरे भी पहिनते हैं। इनका काम केवल 'आवाज' देना भर होता है। ये सूचना देने के काम में आते हैं।

इनके अलावा, आजकल, लकड़ियों के दो छोटे टुकड़ों को हाथ में लेकर भी

थारी भाभ्यां चुगसी, थारा बाछडा,
लाडो बेटी, जाय घरां।
म्हारी कूण ल्यावैला घास।
बाबल, थांरी धीय बिना?
थारो भाई ल्यावैला, थारो घास,
लाडो बेटी, जाय घरां।
म्हारी कूण करैला रसोई,
ओ बाबल, थांरी धीय बिना?
थारो भाभी करैली रसाई,
लाडो बेटी जाय घरां।
म्हारो कूण खिलावैला भतीज,
औ बाबल, थांरी धीय बिना?
थारी भाभी खिलावैली, बालकियो भतीज,
लाडो बेटी, जाय घरी।
थांने बाबल कूण केवैला,
ओ बाबल, थांरी धीय बिना?
आँसू तो भर आया नैणां में,
ओ लाडो बेटी, जाय घरां।

पिता विवाहोपरान्त पुत्री को ससुराल जाने के लिए कह रहे हैं। पुत्री की चिन्ता यह है कि यदि वह ससुराल चली गई तो उसके पीहर में वे सब कार्य कौन करेगा जिसे वह अब तक करती रही है, मसलन पानी भरना, गोबर साफ करना, दही बिलौना, गायों को खोलना, उनके बछड़ों को दूध पिलाना, घास लाना, खाना बनाना, भतीजे को खिलाना आदि। पिता के आग्रह पर वह एक-एक करके इन कामों का हवाला देती है किन्तु पिता उसे क्रमशः समझाते हैं कि अमुक काम तेरी भाभी कर लेगी, अमुक काम तेरा भाई कर लेगा। अंत में जब पुत्री यह कहती है कि तुम्हें 'बाबुल' कह कर कौन पुकारेगा तो पिता निरुत्तर हो जाते हैं और उनकी आंखें छलछला आती हैं। राजस्थानी पारिवारिक जीवन की मधुरता और सम्बन्धों की प्रगाढ़ता इस लोकगीत में दृष्टव्य है।

ओ प्यारी बेटी, घर जाओ

मेरा परेंडा[1] खाली है ओ पिताजी
कौन भरेगा तुम्हारी बेटी के बिना?

---

१. परेंडा - वह स्थान जहाँ पीने के पानी के मटके तथ जल पात्र रखे जाते हैं। यह स्थान विशेष राजस्थानी जन-जीवन में एक पवित्रता बोध के साथ जडा हआ है।

तेरी भाभियाँ भरेंगी तेरा परेंडा
प्यारी बेटी, घर जाओ।
गोबर सारे घर में फैला है ओ पिताजी
कौन उठायेगा तुम्हारी बेटी के बिना?
तेरी भाभियां उठायेंगी गोबर
प्यारी बेटी, घर जाओ।
मेरा दही पड़ा है बिना बिलोये
कौन बिलोयेगा पिताजी, तुम्हारी बेटी के बिना?
तुम्हारी भाभियां तुम्हारा दही भी बिलोयेगी
प्यारी बेटी, घर जाओ।
मेरी गाय बंधी है ठांण[२]
कौन खोलेगा, पिताजी, तुम्हारी बेटी के बिना?
तुम्हारा भाई खोलेगा तुम्हारी गाय
प्यारी बेटी, घर जाओ।
मेरे बछड़े खेल रहे हैं गायों के ठांण
उन्हें कौन स्तन-पान करवाएगा-
पिताजी, तुम्हारी बेटी के बिना?
तुम्हारी भाभियां बछड़ों को
स्तन-पान करवा देगी
प्यारी बेटी, घर जाओ।
मेरा घास कौन लाएगा
पिताजी तुम्हारी बेटी के बिना?
तुम्हारा भाई लाएगा घास तुम्हारा
प्यारी बेटी, घर जाओ।
भोजन कौन बनाएगा पिताजी
तुम्हारी बेटी के बिना?
तुम्हारी भाभी बनाएगी भोजन
प्यारी बेटी, घर जाओ।
मेरे भतीजे को कौन खिलाएगा
ओ पिताजी, तुम्हारी बेटी के बिना?
तुम्हारी भाभी खिलाएगी
तुम्हारे नन्हें भतीजे को

२. ठांण- स्थान - वह स्थान जहाँ दुधारू पशु बांधे जाते हैं।

प्यारी बेटी, घर जाओ।
तुम्हें 'बाबुल' कौन कहेगा
ओ पिताजी, तुम्हारी बेटी के बिना?
आंसू भर आए नयनों में
(अवरुद्ध कंठ से पिता बोले)
प्यारी बेटी, घर जाओ।

(५)
छोड़ 'र बाई सिध चाल्या?
म्हे थांने पूछां म्हांरी धीवड़ी,
म्हे थांने पूछां म्हांरी बालकी,
इतरो बाबेजी रोलाड, छोड 'र बाई सिध चाल्या?
म्हें रमती बाबोसा री पोल,
म्हें रमती बाबोसा री पोल,
आयो सगेजीरो सूवटो, गायड़मल ले चाल्यो।
म्हे थांने पूछां म्हांरी बालकी
म्हे थांने पूछां म्हांरी धीवड़ी
इतरो माऊजी रो लाड, छोड ''र बाई सिध चाल्या?
आयो सरोजी रो सूवटो
हे आयो सरोजी रो सूवटो
ओ लेग्यो टोली में सूं टाल, फूटरमल ले चाल्यो।
म्हे थांने पूछां म्हांरी बहनड़ी,
म्हें थांने पूछां म्हांरा बाईसा
इतरो वीरेजी रो हेत, छोड 'र बाई सिध चाल्या?
हे आयो परदेसी सूवटो
हे बागां मांयलो सूवटो
म्हें रमंती सहेल्यांरै साथ, जोड़ीरो जालम ले चाल्यो

बिटिया, कहां चली?

(बेटी ससुराल के लिए विदा हो रही है। उसके पिता माँ और भाई उससे पूछते हैं कि वह कहाँ चली? विदा होने वाली बेटी अपने पीहर की आत्मीय स्मृतियों से सिक्त उत्तर देती है। —संवादों में एक ही वाक्य की आवृत्ति भावनात्मक सघनता दर्शाती है।)

हम तुमसे पूछते हैं प्यारी बिटिया
हम तुमसे पूछते हैं हमारी बच्ची

पिता का इतना वात्सल्य छोड़कर बिटिया, कहां चली?
मैं पिताजी की पोल[1] में खेलती थी
मैं खेलती थी पिताजी की पोल में
आया समधी जी का तोता, वह (गायड़मल) ले चला।
हम तुमसे पूछते हैं हमारी बच्ची
हम तुमसे पूछते हैं हमारी बिटिया
माँ की इतनी ममता छोड़कर बिटिया, कहां चली?
आया समधी जी का तोता
रे आया समधी जी का तोता
वह ले चला झुण्ड में से चुन कर, वह (फूटरमल) ले चला।
हम तुमसे पूछते हैं हमारी बहन
हम तुमसे पूछते हैं हमारी बाईसा[2]
इतना भाई सा प्रेम छोड़ कर कहाँ चली?
रे आया परदेसी तोता
रे आया बागों का तोता
मैं खेलती थी सहेलियों के साथ जोड़ी का जालिम[3] ले आया।

---

१. पोल – प्रोल, घर का अगला भाग।
२. बाईसा – बहन, बेटी
३. जोड़ी का जालिम – जालिम शब्द 'क्रूर' के लिए प्रयोग में आता है पर यहाँ 'जोड़ी का जालिम' प्रयोग मधुर क्रूरता का भाव दर्शाता है।

डॉ. मनोहर शर्मा

हरसा बीर म्हारा रे

संसार भर के साहित्य में प्रेम के विविध रूपों पर प्रचुर परिमाण में रचनाएं हुई हैं और उनमें सर्वाधिक मात्रा नायक–नायिका की विभिन्न परिस्थितियों एवं भावोद्‌गारों से सम्बन्धित हैं। संतान के प्रति माता–पिता के हृदय में स्नेह की जो तीव्र धारा लहराती है, उसके विषय में भी काफी लिखा गया है परन्तु भाई–बहिन के निर्मल एवं पवित्र प्रेम के गीत कम ही मिलते हैं, यद्यपि इस स्नेह–संबंध की गहराई अगाध मानी गई है। इसके विपरीत जब हम लोक साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो वहां अनेक आश्चर्यजनक एवं साथ ही रोचक चीजें मिलती हैं और उनमें विशेष वस्तु भाई–बहिन के सहज एवं सरल स्नेह की उत्कट अभिव्यक्ति है।

राजस्थान लोक साहित्य का रत्नाकर है। यहां लोकमुख पर अवस्थित भाई–बहिन के स्नेह की तीव्रता का दर्शन करना हो तो 'भात' के गीतों पर ध्यान देना चाहिए। ये गीत बड़े ही मार्मिक हैं। परन्तु इतना ही नहीं, यहां कई ऐसे 'झीडें' अर्थात् लम्बे गीत भी लोक प्रचलित हैं, जिनमें भाई–बहिन का पवित्र प्रेम साकार हो उठा है। उदाहरणस्वरूप शेखावाटी प्रदेश में गाए जाने वाले ऐसे दो लोक काव्यों का नाम सहज ही लिया जा सकता है, जिनमें एक काव्य पिरथीराज और उसकी बहिन सुरजां से संबंधित है और दूसरा हरस तथा जीण विषयक है। इनमें द्वितीय जनकाव्य (अर्थात् हरस और जीण से संबंधित) विशेष लोकप्रिय है और वह अधिक गाया जाता है।

राजस्थान के सीकर जिले में हरस और जीण के दो अलग देवस्थान हैं और वे दोनों ही अत्यधिक मान्यता प्राप्त हैं। इनमें 'हरस' का देवालय प्राचीन इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है और वहां आजकल 'हरस के भैरव' की मान्यता है, जबकि पुराने समय में यहां हर्षनाथ शिव का अत्यन्त विशाल एवं भव्य देवभवन था। यह देवालय अब पर्वत पर नवीन रूप में दर्शनीय है। इससे कुछ दूरी पर 'जीणमाता' का पर्वत एवं उस पर बना हुआ मन्दिर दिखलाई देता है, जो एक शक्तिपीठ है। जीणमाता पुराणवर्णित जयन्ती देवी है, जिसका एक नाम भ्रामरी भी है। इसलिए गीतों में इस देवी को 'भूंरां की राणी' कह कर भी स्मरण किया जाता है।

राजस्थानी जनता में सदा से धार्मिक भावना तीव्र रही है और यही कारण है कि यहां विशिष्ट देवस्थानों पर अनेक मेले लगते है और उनकी मनोती बोली जाती है। लोग दूर–दूर से इन देवालयों पर आते हैं और अपनी श्रद्धा के सुमन यहां भेंट करते हैं। हरस और जीण के मेले भी बहुत बड़े लगते है और इनमें अति विशाल जन–समूह इकट्ठा होता है।

जो देवस्थान कुछ प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है, उसके सम्बन्ध में चमत्कारपूर्ण कथाओं का लोक-प्रचलित होना स्वाभाविक है। यही स्थिति हरस और जीण की है। स्पष्ट ही इनमें प्रथम शिवालय एवं द्वितीय शक्तिपीठ है परन्तु भोले-भक्तों ने इनको कथा अथवा गीत में भाई-बहिन के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया है और ऐसे कथानक में उनका पूरा विश्वास भी है। यह सब जन-साधारण की सरल भक्ति-भावना का उज्जवल प्रकाशन है, जो देखते ही बनता है।

लोक कथा के अनुसार वर्तमान चुरू नामक नगर के पास बसे हुए घांघू के प्राचीन राजा घंघ की अप्सरागर्भसंभूत संतानें हरस तथा जीण हैं। राजा घंघ और अप्सरा का सम्बन्ध एक शर्त के साथ हुआ था। कालान्तर में जब वह शर्त टूट गई तो अप्सरा रानी अपने पुत्र हरस और पुत्री जीण को लेकर आकाश में उड़ गई और आगे जाकर उसने मार्ग में एक पर्वत पर हरस को तथा दूसरे पर जीण को बिठा दिया, जो समयानुसार देव और देवी के रूप में लोकपूजित हुए। यह कथा सहज ही भारत के प्राचीन कथानक 'पुरुरवा और उर्वशी' का स्मरण करवा देती है, जो अन्य भी अनेक नामों में रूपान्तरित होकर लोकमुख पर अवस्थित है।

इस विषय का जनकाव्य कुछ बड़ा सा है और उसमें कथानक का ठाठ दूसरा ही है। तदनुसार हरस और उसकी छोटी बहिन जीण को घरेलू वातावरण में उपस्थित किया गया है, जहां भावज के लांछनयुक्त क्रूर वचन से पीड़ित होकर उसकी ननद जीण घरबार छोड़ तपस्या करने के लिए चली जाती है। भाई हरस अपनी बहिन को रोकने के लिए काफी चेष्टा करता है परन्तु अन्त में असफल होकर वह स्वयं भी गृहस्थजीवन को त्याग तपस्या हेतु चला जाता है। कालान्तर में ये दोनों भाई-बहिन तपस्या की दिव्य विभूति से देव रूप धारण करके लोक पूजित होते हैं। यहां तक लोककाव्य का पूर्व भाग है। इसके उत्तर भाग में जीणमाता के चमत्कार की अलौकिक कहानी वर्णित है। जब इस देव मन्दिर को भग्न करने के लिए बादशाह की सेना आती है तो वह देवी के भौंरों के दर्शन से पीड़ित होकर भाग छुटती है और बादशाह स्वयं माता को भेंट चढ़ा कर उसकी कृपा प्राप्त करता है।

इस प्रकार स्पष्ट ही हरस और जीण के विषय में जो कथानक लोकप्रसिद्ध हैं, वे भले ही ऐतिहासिकता से सर्वथा दूर हों परन्तु वे बड़े ही रोचक एवं सरस हैं। इन दोनों कथानकों में हरस और जीण को मानव रूप से ऊंचा उठा कर देव रूप दिया गया है, जब कि पुराणकथा के अनुसार वे प्रारम्भ से ही देवरूप हैं। हरस तथा जीण विषयक शिलालेख कुछ थोड़े से विद्वानों के विवेचन अथवा चिन्तन से सम्बन्धित हैं, जबकि उनका 'झीड़ा' अर्थात् लम्बा गीत जन साधारण की जिव्हा पर अवस्थित है और सम्पूर्ण विश्वास के साथ गाया जाता है।

स्पष्ट ही इस गीत की इतनी अधिक जनप्रियता का कारण इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति एवं तीव्र सरलता है परन्तु इसकी एक विशेषता यह भी है कि गीत में भाई के प्रति बहिन का जो उत्कट स्नेह प्रकट हुआ है उसकी अपेक्षा बहिन के प्रति भाई

की निर्मल स्नेह धारा कम वेगवती नहीं है। बल्कि वह तीव्रतर ही है। इस प्रकार यह गीत भाई–बहिन के पवित्र प्रेम का एक दिव्य एवं प्रकाशमान आदर्श है। जनकाव्य में इस आदर्श का दिव्य रस लबालब भरा हुआ है, जो लोक हृदय की सरल रसिकता का द्योतक है।

गीत का प्रारंभ हरस और जीण के वार्तालाप से होता है, जबकि वह (जीण) घर छोड़ कर अपने निश्चित पथ पर आगे बढ़ चुकती है और भाई उसे मनाने के लिए दौड़ता है। प्रास्ताविक पंक्तियां इसी प्रकार हैं—

हरसा बीर म्हारा रे, दर तो घांघू में रे
जलम्या दो जणा,
हरस बड़ो अर छोटी जीण,
जामण का रे जाया, अपणी जामण
कै रे जलम्या दो जणा।
हरस बीर म्हारा रे, मा–बाबल
खोस्या म्हारा राम,
जामण का रे जाया, जलमी को जायो
रे भावज खोसियो।
हरसा बीर म्हारा रे, कुण बूझै
मा बिन मन की बात,
ओदर का रे साथी, कुण रे सुंवारै
उळझ्या केसड़ा।
हरसा बीर म्हारा रे, जिण दिन
मरगी म्हारी माय,
जामण का रे जाया, सीर पीवर को
रे उण दिन ऊठियो।

(जीण अपने भाई हरस से कहती है— घांघू में दो व्यक्तियों ने जन्म लिया। उनमें हरस बड़ा भाई और जीण उसकी छोटी बहिन है। मेरे सहोदर भाई, इस प्रकार हमारी माता ने हम दोनों को जन्म दिया। परन्तु मेरे भाई, राम ने हमारे माता और पिता दोनों को ही उठा लिया। फिर बचा मेरा भाई हरस। अब मेरी भावज ने मेरा भाई भी मुझ से छीन लिया तो संसार में मेरा रहा ही कौन? भाई हरस, माता बिना मेरे हृदय के सुख–दुःख की बात मुझसे पूछने वाला कौन है? हम दोनों ने एक ही माता के पेट में पल कर संसार में जन्म ग्रहण किया है। अब माता इस संसार में नहीं है तो मेरे उलझे हुए केशों को कौन संवारेगी? जिस दिन माता की मृत्यु हुई, उसी दिन पिता के घर में मेरा सांझा समाप्त हो गया।)

गीत की प्रत्येक पंक्ति के साथ 'हरसा बीर म्हारा रे', 'जामण का रे जाया' और 'ओदर का रे साथी' आदि दुसरावण के 'बोल' हैं, जो जनगीत की एक स्वाभाविक

प्रवृत्ति है। परन्तु इतना ही नहीं, ये 'बोल' हृदय पर सीधा असर करने वाले हैं। भाई के लिए 'बीर' शब्द का एवं माता के लिए 'जामण' शब्द का प्रयोग बड़ा सारगर्भित है। यहां 'बीर' शब्द में भाई की शौर्य भावना और बहिन के प्रति उसकी कर्तव्यनिष्ठा परिलक्षित है, जिनकी ओर जीण बारम्बार संकेत करती है। इसी प्रकार गीत में माता के लिए 'जीमण' (जन्म देने वाली) शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसने जीण से पहले हरस को जन्म दिया और वे दोनों एक ही उदर में पोषण प्राप्त करके इस संसार में प्रगट हुए हैं।

जीण को भावज ने सरोवर पर लांछन युक्त कटु वचन कहे थे। उसके वाग्वाणों से जीण का कोमल हृदय बिंधा हुआ था। अत: उससे भाई के प्रति व्यंग्यात्मक वचन कहे बिना नहीं रहा गया। उसका दु:ख से भरा हुआ रोष भाई के सामने प्रकट हुआ—

हरसा बीर म्हारा रे, थे भल राख्यो
म्हारो मान,
जामण का रे जाया, आछी उढ़ाई रे
बोरंग चूनड़ी।
हरसा बीर म्हारा रे, रिपियां सूं
प्यारो लागै ब्याज,
जामण का रे जाया, बाबल सूं प्यारो
रे लागै डीकरो।
हरसा बीर म्हारा रे, मायड़ सूं
प्यारी लागै सास,
जामण का रे जाया, भैनड़ सूं प्यारी
घर की असतरी।

(मेरे भाई हरस, तुमने मेरा सम्मान खूब रखा और अपनी बहिन को अच्छी चूनड़ी ओढ़ाई! भाई हरस, संसार की हवा ही कुछ ऐसी है कि लोगों को मूलधन की अपेक्षा ब्याज अधिक प्यारा लगता है। पिता की अपेक्षा पुत्र विशेष प्रिय होता है और माता से सास अधिक प्यारी लगती है। इसी प्रकार लोगों को बहिन की अपेक्षा अपनी पत्नी विशेष प्रिय होती है।)

जीण के इन शब्दों में उसके हृदय की पीड़ा बोल रही है। इस प्रकार पीड़ित हृदय में क्रोध का उदय होना स्वाभाविक है और आत्मीयजन के प्रति ऐसी परिस्थिति में रोष जागृत भी अधिक होता है। राजस्थान में यह आम रिवाज है कि भाई अपनी बहिन को चूनड़ी नामक ओढ़ने का वस्त्र भेंट करता है। जीण उसी चूनड़ी की चर्चा करके हरस को सामाजिकता मिश्रित व्यक्तिगत व्यंग्यवचन कहती है।

हरस को यह कब सह्य था कि उसकी पत्नी के कारण बहिन के हृदय को ऐसी चोट लगे और वह घर छोड़ने तक के लिए तैयार हो जाए। उसने बहिन से

वापिस लौटने के लिए स्नेहपूर्ण आग्रह किया—

जीण मेरी बाई ए, मुड़-मुड़ तूं घर नैं पाछी चाल,
मेरी मां की ए जाई, हरसो तो ऊभो करै ए मनावणां।
जीणू मेरी बाई ए, असी ए कळ्यां को सिमाद्यूं घाघरो,
मेरी मां की ए जाई, ओर मंगाद्यूं दिखणी चीर,
मोत्यां जड़वाद्यूं ए थारी राखड़ी।
जीण मेरी बाई ए, हीरां जड़वाद्यं थारो हार,
मेरी मा की ए जाई, बिंछिया घड़वाद्यं थारो हार,
मेरी मा की ए जाई, बिंछिया घड़वाद्यूं ए बाई बाजणा।

(मेरी दुलारी बहिन जीण, तू घर लौट चल। मेरी सहोदरा, तेरा भाई हरस सब तरह से तेरा मन राजी करने के लिए तैयार है। मैं तेरे लिए अस्सी 'कली' का अच्छा खासा घाघरा सिलवा दूंगा; तेरे लिए 'दिखणी चीर' (बढ़िया ओढ़ना) मंगवा दूंगा, मैं तेरी 'राखड़ी' मोतियों से और तेरा हार हीरों से जड़वा दूंगा। मेरी सहोदरा, बजने वाले घुंघरुओं से युक्त 'बीछिया' नामक गहना भी तेरे लिए तैयार करवा दूंगा। तूं घर लौट चल।)

नारी को स्वभाव से ही गहनों और कपड़ों का विशेष चाव होता है। हरस अत्यंत स्नेहपूर्ण शब्दों में उसे इन सब चीजों को सुलभ कर देने के लिए कहता है। परन्तु उसके शब्दों में केवल लौकिक प्रलोभन नहीं है। इन शब्दों के पीछे हरस के हृदय का अकृत्रिम और अटूट स्नेह है, जो 'जीण मेरी बाई ए' तथा 'मेरी मा की ए जाई' जैसे बारम्बार किए गए सम्बोधनों से टपका पड़ता है। जीण अपने भाई के स्वाभाविक स्नेह को समझती है परन्तु उसको अपनी भावज के 'बोल' भुलाये भी नहीं भूलते—

हरसा बीर म्हारा रे, एकै ओदर में रे दोनूं लौटिया,
जामण का रे जाया, एकै मायड को चूंघ्यो दूध,
एकै पालणियै रे दोनूं झूलिया।
हरसा बीर म्हारा रे, भैनड़ भाई को गाढ़ो नेह,
मेरा मा का रे जाया, पर घर की
आई रे बा तो तोड़ियो।

(मेरे भाई हरस, हम दोनों ने एक ही माता के उदर में पोषण प्राप्त कर के जन्म ग्रहण किया है। फिर हम दोनों ने एक ही माता का स्तन पान किया है और हम दोनों एक ही पालने में झूले हैं। हमारा भाई और बहिन का स्नेह प्रगाढ़ है परन्तु पराये घर की लड़की अर्थात् मेरी भावज ने इसको तोड़ डाला।)

लोक-गीतों में ननद-भावज की चर्चा अनेकशः आती है। उनमें ननद अपनी भावज को तंग करती है परन्तु जिस ननद के माता-पिता मर चुकते हैं वह अपनी

भावज के व्यवहार से पीड़ित होती है। प्रस्तुत गीत में ऐसा ही है। प्रायः भाई अपनी बहिन का पक्ष न लेकर पत्नी का पक्ष लेता है, जिससे उसकी (पत्नी की) हिम्मत बढ़ जाती है। परन्तु इस जनकाव्य का भाई हरस ऐसा नहीं है। वह बहिन के लिए अपनी पत्नी तक को पीहर में छोड़ देने के लिए तैयार हो जाता है—

जीण मेरी बाई ए, भावज थारी
जासी अपणी माय कै,
रैसी वा भवजड्यां के मांय,
जामण की एक जाई, भायां कै स्हारै
ऊमर काटसी।

(मेरी दुलारी बहिन जीण, तुम्हारी भावज अब अपनी माता के घर में रहेगी और अपनी भाभियों के साथ दिन काटेगी, जिससे उसे भी पता चल जाए कि लौकिक व्यवहार क्या है। तूं घर लौट चल! अब तेरी भावज की उम्र अपने भाइयों के सहारे से कटेगी और वह कभी अपनी ससुराल में नहीं रह सकेगी। तूं घर लौट चल!)

जीण तो शपथपूर्वक घर छोड़ने का निश्चय कर चुकी थी, अतः वह वापिस लौट ही कैसे सकती थी? उसने भाई के सामने अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया—

हरसा बीर म्हारा रे, सिखर आयोड़ो
रे सूरज मुड़ चलै,
समै भी गयोड़ो मुड ज्याय,
जामण का रे जाया, जीण आयोड़ी
रे पाछी ना मुड़ै।
हरसा बीर म्हारा रे, जम पर गयोड़ा
भूंरा मुड़ चलै,
बादळ की बूंदां मुड़ ज्याय,
जामण का रे जाया, जीण आयोड़ी
रे पाछी ना मुड़ै।
हरसा बीर म्हारा रे, समंदर सूं
नदियां पाछी आय,
मेरी मा का रे जाया, जीण आयोड़ी रे
पाछी ना मुड़े।
हरसा बीर म्हारा रे, सोगन मैं खाई
सरवर पाळ पै,
आडो तो लीन्यो सूरज देव,
जामण का रे जाया, भावज को
चाढ्यो रे कळंक उतारस्यूं।

हरसा बीर म्हारा रे, जाय तो बसूं
मैं परबत–डूंगरां,
हर सूं लगास्यूं बीरा हेत,
जामण का रे जाया, जीतां जी
रहस्यूं रे बीरा ऊजळी।

(मेरे भाई हरस, आकाश के मध्यभाग में आकर सूर्य भले ही पीछे की ओर मुड़ चले, चाहे बीता हुआ समय वापिस आ जाए, परन्तु मेरे सहोदर भाई, तुम्हारी बहिप जीण कभी लौट कर वापिस नहीं जा सकती। मेरे भाई, चाहे यमलोक पहुँचा हुआ प्राणी वापिस धरती पर लौट आए, चाहे बादल की बूंदें नीचे पृथ्वी पर न गिर कर ऊंची आकाश में चली जाएं, चाहे नदियां समुद्र की ओर चलती हुई वापिस लौट पड़े परन्तु मेरे सहोदर, जीण कभी वापिस नहीं लौट सकती। मेरे भाई, मैंने सरोवर की पाल पर सूर्य देव को साक्षी बना कर शपथ ली है कि भावज का लगाया हुआ कलंक उतारूंगी और भगवान से नाता जोड़ कर इस संसार में सर्वथा उज्ज्वल बन कर रहूँगी। अतः मेरा वापिस घर जाना संभव नहीं है।)

बहिन जीण के दृढ़ निश्चय को सुन कर भाई हरस को वह समय याद आ गया, जब कि उसके माता–पिता ने मरते समय उसे भाई की सुरक्षा में छोड़ा था। मृत्यु–शैया पर पड़े हुए उसके पिता ने कहा था—

जीण मेरी बाई ए, मरती तो बरियां
ए बाबुल यूं कह्यो,
एक घणेरो मन में सोच,
मेरा मोभी रे बेटा, लारां तो छोड़ी
रे भोळी चिड़कली।
हेलो तो देय जिमांतो साथ,
सांझ सबेरी रे लेतो वारणां,
होवैली सांझ–सबेरी रोज,
भोजन की बरियां रे ऊभी रोयसी।

(मरते समय पिता ने कहा था—मेरे मन में एक बात की बड़ी चिन्ता है। मेरे प्यारे बेटे, चिड़िया के समान भोळी–भाली जीण को मैंने पीछे छोड़ा है। मैं प्रातः सायं उस पर न्यौछावर जाता था और पुकार कर अपने साथ भोजन करवाता था। अब भी प्रतिदिन प्रातःकाल होगा और संध्या आएगी परन्तु मेरी लाडली बेटी मुझे याद करके भोजन के समय रोया करेगी।)

मरणासन्न व्यक्ति के इन शब्दों में करुण रस की तीव्र धारा प्रवाहित है, जो पत्थर

को भी पिघला देती है। लगभग इसी प्रकार का वचन हरस की मरणासन्न माता का भी है। ये स्थल बड़े ही मार्मिक हैं और इन्हीं ने इस काव्य को इतना प्रभावशाली बनाया है। हरस के हृदय पर इन शब्दों का गहरा प्रभाव जमा हुआ था, अतः वह अपनी छोटी बहिन जीण को कभी अकेली छोड़ने के लिए तैयार न था। उसने सब तरफ से मन को हटा कर अपना अन्तिम निश्चय जीण के सामने प्रकट किया—

जीण मेरी बाई ए, जाऊंलो एक दिन दरगा मांय,
जामण की ए जाईं, माँ–बावल बूझै
ए थारी वारता।
जीण मेरी बाई ए, मुखड़ो दिखाऊं
ए क्यूं कर जाय,
जामण की ए जाई, कांई बताऊं ए मायर बाप नैं।
जीण मेरी बाई ए, पाथर ज्यूं जोड़ू
वाल्हो राज.
जामण की ए जाई, भावज थारी
छौडूं ए पीवर झूरती।
जीण मेरी बाई ए, जीवतड़ो बिछडूं
थां सूं नांय,
जामण की ए जाई, मोत बिछोवो ए
भैनड़ घालसी।

(मेरी दुलारी बहिन जीण, एक दिन मुझे भी भगवान के दरबार में जाना है। वहां अपने माता–पिता भी उपस्थित मिलेंगे। मैं उनको अपना मुंह किस प्रकार दिखला सकूंगा? वे तुम्हारा हाल पूछेंगे, उस समय मैं उनको क्या कहूंगा? मेरी सहोदरा, मैं कंकर–पत्थर के समान अपना राज्य छोड़ दूंगा। तुम्हारी भावज अपने पिता के घर में बीते समय को याद करके कष्ट भोगती रहेगी। परन्तु जीवित अवस्था में मैं तुम से बिछुड़ नहीं सकता। मेरी दुलारी बहिन, मेरा और तुम्हारा अलगाव तो मृत्यु ही कर सकती है।)

इस प्रकार बहिन जीण और भाई हरस दोनों ही अपने निश्चय पर अडिग थे। न जीण वापिस लौटने के लिए तैयार थी और न हरस ही उसे अकेली छोड़ कर घर जाने के लिए राजी था। फलतः वे दोनों एक ही पथ पर आगे बढ़ गए। भाई एक पर्वत पर बैठ गया और बहिन ने दूसरे पर्वत पर आसन जमाया। उन्होंने एक दूसरे को पीठ देकर तपस्या की, जिससे कि माया–मोह न सताए और तपस्या भंग न हो। अंत में वे दोनों ही देवरूप में लोकपूजित हुए और आज भी उनकी उसी प्रकार पूजा होती है।

प्रस्तुत जनकाव्य का सरस और साहित्यिक रूप इस पूर्व भाग में ही है। उत्तर

भाग में तो देवी का चमत्कार संक्षिप्त कहानी के रूप में गाया जाता है और उसमें कोई विशेष मार्मिक स्थल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मानों वह अंश गीत में पीछे से जोड़ दिया गया हो। बादशाह औरंगजेब के जमाने में हर्षनाथ का विशाल शिवालय भंग हो गया परन्तु किसी कारण से जीण माता का स्थान रक्षित रहा। ऐसी स्थिति में इस गीत के उत्तर भाग में हरस की उपस्थिति आवश्यक न समझ कर जीणमाता की ओर लोकगायक का ध्यान चल गया प्रतीत होता है। वहां शक्ति के द्वारा बादशाह को परास्त करवा कर भक्त गायक ने संतोष लाभ किया है। यही कारण है कि प्रस्तुत जनकाव्य को 'जीणमाता को गीत' कहा जाता है परन्तु वास्तव में देखा जाय तो यह 'हरस को गीत' है। इसके पूर्व भाग में, जिसके कारण इसे इतनी अधिक लोकप्रियता मिली है, हरस का चरित्र प्रधान रूप से चित्रित हुआ है। हरस त्याग का आदर्श है। उसने अपनी बहिन के लिए राज-पाट और पत्नी सब का पल भर में परित्याग कर दिया और वह अपनी दुलारी बहिन के साथ ही तपस्या करने के लिए अग्रसर हो गया।

यह कथानक अद्वितीय है और इसकी अभिव्यक्ति असाधारण है। बहिन के लिए इतना त्याग करने वाले किसी दूसरे भाई का चरित्र दुर्लभ है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत राजस्थानी जनकाव्य को लोकसाहित्य की एक बेजोड़ चीज ही कहना पड़ेगा। इस महत्वपूर्ण रचना से राजस्थानी साहित्य गौरवान्वित है।

राजस्थान की एक करुण प्रणय कथा

मदनगोपाल शर्मा

कोई अखनकँवारी काठाँ चढ़ रही

लोक साहित्य की दृष्टि से राजस्थान एक समृद्ध प्रदेश है। खनिज सम्पत्ति की भाँति यहाँ के लोक साहित्य का भंडार भी अटूट और अपार है। इस भंडार में लोकगाथाओं के एक से एक उज्ज्वल और अमूल्य मणिमाणिक बिखरे पड़े हैं। इन सब लोक गीत गाथाओं में राणा कछवा की कथा अपनी अनूठी चमक-दमक रखती है। राजस्थानी लोक गीत गाथाओं में जिन प्रमुख सात देवियों की प्रणय-कथाएँ जन-जन के मानस में मुखरित हैं उनमें लाछां भी एक है। राजस्थानी महिला समाज इन्हें सदा से सात बहिनों के नाम से जानता-मानता आया है? क्या हुआ जो ये सगी बहिने नहीं है। इनके जीवन में त्याग और उदात्त प्रेम का जो सामान्य शत्रु है उसी से ये रक्त सम्बन्ध से भी अधिक दृढ़ता से प्रगाढ़ बहनापे में बंधी हुई है। इन सातों बहनों में लाछां का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। उसकी निर्बोध सरलता और उसके सतीत्व का कौमार्य उसकी अपनी विशेषता है और उसके प्रेम की उत्कृष्टता और त्याग भावना भी अद्वितीय है।

इस लोकगीत गाथा में प्रेम के जिस स्वरूप का उद्घाटन हुआ है वह नितांत निर्बोध और पावन है। राजस्थानी रमणी की शिशु सुलभ सरलता, सौन्दर्य के अटूट आकर्षण हृदय के सहज समर्पण और विरहकी मर्मान्तक व्यवस्था के स्वच्छ निर्मल सूत्रों से इस रंगीन करुण कथा-पट की रचना हुई है।

यह लोक-कथा थोडे हेर फेर के साथ राजस्थान में एक सिरे से, दूसरे सिरे तक गाई जाती है। फेर-बदल शब्दों में ही है। कथा का मूलाधार एक ही है इतना ही नहीं उसकी मूल अनुभूति भी एक रस और अखण्ड है। गीत की प्रत्येक कड़ी का "राणा काछबो" इन दो शब्दों के साथ करुण अन्त में पर्यवसान होता है। लगता है कि कथा की नायिका लाछां की सांस-सांस में अपने प्रिय राणा काछवे का जो नाम बसा हुआ है उसी की प्रतिध्वनि इस रूप में इस गीत की कड़ी-कड़ी में गूंज रही है मानो लाछां इन गीतों के रूप में अपनी भावनाओं की अन्तिम धरोहर भी राणा के नाम ही कर गई है।

अन्य अनेक लोकगाथाओं की भाँति राणा कछुवा की इस लोकगाथा का ऐतिहासिक वृतांत भी अज्ञात है। अन्य प्रमाणों के अभाव में केवल शब्द साम्य के आधार पर ही राणा हमीर या कछवाहा कुल के साथ इस सम्बन्ध में बैठना उचित न होगा।

ऐतिहासिक स्वरूप इस गाथा का जो भी रहा हो, लोकमानस में इसकी सत्ता युगों से एक सी मुखर चली आ रही है। सावन की रिमझिम में झूला झूलती हुई, बरसात की किसी रंगीन सुहानी सांझ को खेतों से लौटती हुई या चैत्र वैशाख की किसी उजली चांदनी रात को छत पर इकट्ठी मिल बैठी ग्राम-ललनाओं के कंठ से जब इन गीतों की कड़ियाँ उमड़ती हैं तो राणा कछुबा और लाछां की तस्वीर और इनकी प्रणय कथा आँखों के आगे तैर उठती है।

कितनी अबोध थी वह गोरी-गोरी भोली-भाली लाछां जिसकी भाभी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उसे चुटकियों में बहलाने में सफल हो गई। साथ ही वह भी कितनी भाग्यवान थी कि उसकी सगाई बचपन में ही परम वीर और रूपवान राणा हमीर के साथ हो गई थी। राणा हमीर जिसका नाम बुआ ने लाड़-प्यार से काछवा (कछुआ) रख दिया था और बचपन से ही वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया था।

लाछां के भाग्य का यह जो प्रथम पृष्ठ खुला, कितना स्वर्णिम था? किन्तु शीघ्र ही उसकी भाभी के क्रूर हाथों ने उस पर अपनी करतूतों की काली स्याही फेर दी। क्योंकि पीहर में उसका अपना सगा भाई जो अनब्याहा बैठा था। अपने स्वप्न को साकार करने के लिए योजना के विषवमन को सुअवसर भी उसे एक रात शीघ्र ही हाथ लग गया।

चांदनी रात थी। चांदी-सी उजली चांदनी छिटकी पड़ती थी। ऐसे समय बाई लांछा अपनी भाभी के संग जल भरने के लिए निकली। आगे आगे ननद थी और पीछे-पीछे भावज! सरोवर के तट पर पहुँची तो गगरी कगार पर रख दी—

> चांदा थारी चंनणी-सी रात जी
>
> (कोई) बाई तो लाछाँ पाणी नीसरी;
>
> आगै-आगै नणदल बाई रो साथ जी
>
> (कोई) लारै छिणगारी भावज नीसरी;
>
> गई-गई सरवरिए री पाल जी
>
> (कोई) घड़लो तो मेल्यो सरवर पाल पै

सरोवर के तट पर गगरी रखकर लाछां ने हाथ पांव धोए और सैंकड़ों कुल्ले किए। न जाने आज वह क्यों उमंग में थी। भाभी ने उसकी ये चेष्टाएं देखी। लाछां और अपने भाई को लेकर आशा और निराशा के भाव उसकी कल्पना में डूबने उतराने लगे। न जाने उसका जी कैसा हो उठा। आखिर वह एक मधु व्यंग कस ही तो बैठी—'हे मेरी लाडली ननद बाई, आपने किस बात पर हाथ-मुंह धोए और किस खुशी में सैंकड़ों कुल्ले किए?'' यौवन और लावण्य की उमंग-तरंगों में झूमती हुई लाछां ने निर्द्वन्द्व भाव से कह ही तो दिया- ''हे भावज, हमने अपनी मन मरजी से हाथ-मुंह धोए और अपनी मौज में डेढ़ सौ कुल्ले किए।''

यह उत्तर सुनकर भावज के जी में आया कि कोई तिलमिलाता हुआ जवाब दे। लेकिन बिगाड़ करना ठीक न समझ कर चुप रह गई। सरोवर के जल में चांद तारों के साथ आंख मिचौनी खेल रहा था और किनारे के मौन मुग्ध वृक्ष अपलक यह दृश्य देख रहे थे। बालू के ठंडे टीलों पर थकान मिटा कर आता हुआ पवन अल्हड़ता से लाछां ने जाने किन तारतरल सपनों में खोई हुई थी। अकस्मात जल में छप-छप का शब्द हुआ। लाछां ने देखा एक विचित्र आकृति का जीव जल में चला आ रहा है। उसने आवाज से अपने कौतूहल का समाधान चाहा—

''हे भावज, यह जल में कौन जीव रेंगा जा रहा है, जिसकी पीठ पर विचित्र

रेखाएँ अंकित हैं।''

यही सुअवसर था लाछां के भोलेपन का लाभ उठाने का। भावज ने मुख पर सहज अकृत्रिमता का भाव लाने की चेष्टा करते कहा—

यो छै लाछाँ थारोड़ो भरतार जी
(कोई) जल को जिनावर राणों काछवो
यो छै लाछां थारोड़ो भरतार जी
(कोई) मंगरां पर मांड्या जी कै मांडणा
थे छो ए लाछां जिनवारी जीमणहार जी
(कोई) गार गवोड़ै राणो काछबो
थे छो ए लांछा पिलंगा री पीढ़णहारजी
(कोई) कुरड़ी पर लोटे राणों काछवो

लाछां भावज से यह सुनते ही दंग रह गई। क्या जिस वर की मन ही मन वह कल्पना करती थी उसका यही रूप है। उनके स्वप्न एक बारगी ढह गए।

उसने उतावली से कहा—''हे मेरी भावज, जल्दी घड़ा सिर पर ऊंचाओ। हम इस वर को अस्वीकार कर देंगे।'' भावज ने प्रसन्न होकर कहा, ''हे मेरी ननद बाई, मेरे भाई से विवाह करो जो कटे बूंदी का राजा है।''

घर आकर लाछां ने मां से आग्रह कर सम्बन्ध तोड़ने का संदेश ऊँट पर सवार के हाथ शीघ्र ही राणा के पास भिजवा दिया—

नाई को जी नाई को चाल्यो ढलती रात जो
(कोई) दिन तो उगायो काछू देश में
खोलो जी खोलो सुजड़ किंवाड़
(कोई) बायर तो ऊबा छै लेर संदेसड़ा
किणरा ओ नाईका कागद थारै हाथ
(ओजी) किणरा तो ल्याया आज सन्देसड़ा
बांचो जी राणा कागज लेवो हाथ
(कोई) बाई तो लाछां भेज्यो ओलमां
थारा ओ नाईका करवलिया पिलाण
ओ म्हे तो परणांगा दूजी ठोर में

यहां आकर लगता है कि जैसे अब कोई समस्या नहीं रही है। जो हुआ सो ठीक हुआ। लेकिन नहीं यही वह स्थान है जहां कहानी एक मोड़ लेती है। एक ऐसा मोड़ तेजी से उंसे करुणाजनक अन्त को ले जाता है।

लाछां के लिए कछवा राणा की बात एक भूला हुआ सपना बन जाती है कि एक दिन नगरी में बारात आई। बड़े गाजे-बाजे, बड़ी धूमधाम! लाछां आवाज से पूछा—

अठै ओ सहियो घूर्‌यो छै निसाण

ओ कुण सो तो राजा परण पधारियो

कुण ए भावज डब्बो दीन्यो खोल ए

कुण तो यो अन्तर म्हारै छिड़कियो?

भावज ने उत्तर दिया कि यह तो काछवां राणा की बारात है। सहेलियों को साथ ले लाछां दूल्हा और बारात देखने चली। झरोखों से झुक कर देखा—

बीजा ए लाछां घुरलां असवार

ओ हसती कै हौदै राणो काछवो

औरां कै तो मुरकी भलकैं कानजी

(कोई) उजला को मोती राणो काछवो

औरों कै तो सीस सुरंगी पागजी

(कोई) काछ कै सोबै बांको सेवरो!

जब राणा काछवे का यौवन और सौंदर्य से दैदीप्यमान रूप लाछां ने देखा तो एक साथ उस पर बिजली सी गिर पड़ी। उसकी भावज ने कितना बड़ा विश्वासघात उसके साथ किया था। ओर फिर उसे याद आया राणा के पास अपना सम्बन्ध तोड़ने का संदेश भिजवाया क्या यह राणा का अपमान नहीं था? दु:ख और ग्लानि से उनका हृदय भर आया। उसकी आंखों के आगे अन्धकार छा गया। वह धड़ाम से मूर्छित होकर गिर पड़ी। सहेलियाँ बड़ी कठिनाई से उसे होश में ला सकीं।

किन्तु लाछां तो एक निमिष के दर्शन से ही पूर्णत: राणा की हो चुकी थी। काश, वह राणा के चरणों में दासी रूप से ही रह पाती और अपनी भूल का प्रायश्चित उनकी सेवा के रूप में कर पाती। लेकिन क्या यह संभव था। पुरुष कितने ही सुन्दर और वीर हों आखिर निर्मम तो होते ही है।

फिर भी लाछां ने ज्योतिषी को बुलाया और उनसे पूछा कि क्या राणा के आगमन का कोई योग है। ज्योतिषी ने पंचांग देखा। कोई योग नहीं था। लेकिन नहीं कहना तो शिष्टाचार विरुद्ध और अशुभ था अत: बोले—

गिणल्यो ऐ गिणल्यो लाछां पीपलेड़ी रा पान

इतरा तो दिनां में आवै राणो काछवो!

लाछां अब वह भोली लाछां नहीं रही थी। वह ज्योतिषी की बात का मर्म समझ गई तो इस जीवन में राणा से मिलने की कोई आशा नहीं? फिर क्या होगा जीवन से इस भार को ढोकर? काश, अन्तिम समय राणा दुपट्टा डालने ही आ जाते कि वह सुहाग लाभ तो पालती, किंतु नहीं उसकी यह इच्छा भी अतृप्त ही रह गई—

सहियों ए सहियो चिताद्यो चिणाय ए,

(कोई) अखन कंवारी काठां काठां चढ़ रही?

उस चिर कुमारिका की साध भी चिर कुमारी ही रह गई। राणा का दुपट्टा गिरने के पहले ही उसके जीवन पर आयु की यवनिका पड़ चुकी थी।

गवरी : एक छाया लेख

भानु भारती

भील आदिवासियों में राई-नृत्य हर कहीं प्रचलित है लेकिन राजस्थान में उदयपुर से लगे ग्रामीण इलाक़ों में इस नृत्य ने गवरी के रूप में व्यापक स्वरूप अख़्तियार किया है।

गवरी में भीलों के राई-नृत्य के अंश तो समाहित है ही किन्तु यह अनुष्ठान एक अधिक संश्लिष्ट और सारगर्भित सामाजिक अभिव्यक्ति का रूप धारण कर चुका हैं। मूलत: गमेती भीलों (वह भील जो स्थायी रूप से ग्रामीण इलाक़ों में बस चुके है और जिनकी आजीविका खेती बन चुकी हैं) का अनुष्ठान होने के बावजूद गवरी की रसाई अन्य ग्रामीण जातियों में भी है। गवरी में गाँव के कुम्हार से लेकर अन्य सभी जातियों के लोग किसी न किसी रूप में शरीक रहते है।

उदयपुर क्षेत्र में भीलों के राई -नृत्य का गवरी के रूप में प्रस्फुटन शायद इसलिए सम्भव हुआ कि राणा-प्रताप के समय से भील जनजाति यहाँ के शासक राणाओं के निकट सम्पर्क में आई और यहीं कारण है कि उदयपुर के राज-ध्वज पर जहाँ पर एक ओर राजपूत योद्धा है वहीं दूसरी ओर एक भील योद्धा भी है। शायद इस निकटता का परिणाम हो कि उदयपुर क्षेत्र में भील जनजाति के लोग अपेक्षाकृत अधिक सम्मानजनक सामाजिक हैसियत रखते हैं और वे अपने को भील न कहकर गमेती (ग्रामीण) कहते हैं। हिन्दू आचार-व्यवहार का प्रभाव भी यहाँ के भीलों पर अपेक्षाकृत अधिक है।

गवरी भाद्रपद में रक्षा-बन्धन के दूसरे दिन आरम्भ होकर निरन्तर चालीस दिन चलने वाला अनुष्ठान है। अगर वर्षा ठीक-ठाक हो और खेतों में खाद्यान्न की स्थिति सुदृढ़ हो तो भील-समुदाय के लोग इकट्ठे होकर देवी के मन्दिर में गौरा देवी को निमन्त्रण देने जाते है जिसे की पाती देने के नाम से जाना जाता है। पाती का शाब्दिक अर्थ है पत्र और अभिप्रेत अर्थ है निमन्त्रण, अगर देवी प्रसन्न हो तो वह यह पाती स्वीकार कर लेती है लेकिन यह भी सम्भव है कि देवी किसी कारण उस ग्रामीण समुदाय से नाख़ुश हो और वह यह निमन्त्रण अस्वीकार कर दे। कभी-कभी देवी रुष्ट हो तब भी वे कुछ शर्तो के साथ यह निमन्त्रण स्वीकार कर लेती है और देवी के निमन्त्रण स्वीकार कर लेने के साथ ही शुरू हो जाता है चालीस दिन का यह अनूठा अनुष्ठान।

भील समुदाय में ऐसी मान्यता है कि पार्वती भील कन्या है। गवरी-अनुष्ठान पार्वती अथवा गौरी के अपने सजातियों के बीच रहने आने का अनुष्ठान है। चालीस दिन पूरी

जाति दैवीय सान्निध्य का अनुभव करती है। देश-काल के यथार्थ से परे एक कल्पित देश-काल में सामुदायिक विचरण ही गवरी का लक्ष्य या कि अभिप्रेत है। अनुष्ठान में मुख्य भूमिका निभाने वाले भोपो एवं अन्य मुख्य पात्र (दो राईयाँ, बूडिया जो कि शंकर का प्रतीक है) कुटकडिया (जिसे नाटकीय मुहावरे में सूत्रधार भी कहा जा सकता है) अनुष्ठानिक तौर पर गाँव के देवरे में सिले हुए जो वस्त्र धारण करते हैं वे उनके बदन से चालीस दिन तक नहीं उतरते। पूरी जाति का एक समुदाय में यह रूपान्तरण (Transformation) इतनी लम्बी अवधि के लिए गवरी के अलावा किसी और अनुष्ठान में भी मिलता हो मुझे ज्ञात नहीं। इस दौरान पूरी जाति मांस, मदिरा एवं यौन-सम्बन्धों से पूरी तरह परहेज़ रखते हुए एक पवित्रता में विचरण करती है जो उसे इस लोक से परे दैवीय साहचर्य की अनुभूति कराता है। इस अनुष्ठान के दौरान अपने गाँव के अलावा गवरी समुदाय आसपास के उन गाँवों में भी विचरण करता है जिनसे उसका बेटी-रोटी का रिश्ता है।

जातीय मिथकों एवं अन्य देशज अनुभवों की अभिव्यक्ति करने वाले छोटे-छोटे प्रहसनों की नाटकीय प्रस्तुति गवरी अनुष्ठान का प्रमुख हिस्सा है। गाँव की चौपाल या गाँव के बीच के किसी मैदान में प्रात: क़रीब 7 बजे भाला रोपकर उसके चारों ओर के घेरे को जल से पवित्र करके इन प्रहसनों या आख्यानों का नाटकीय मंचन आरम्भ होता है जो सांयकाल सूर्यास्त तक जारी रहता है और अनुष्ठान की समाप्ति होती है चालीसवें दिन गवरी की प्रतिमा के गाँव के तालाब में विसर्जन के साथ जिसे 'पलावण' कहा जाता है।

गवरी के भोपे। इनकी संख्या पाँच से सात तक होती हैं और ये देवी-देवताओं को द्योतित करते हैं।

मन्दिर में पाती देते हुए।

मन्दिर में पाती देते हुए।

भाला रोप कर अनुष्ठान का आरम्भ जब विभिन्न प्रहसनों का मंचन भी शुरू होता है।

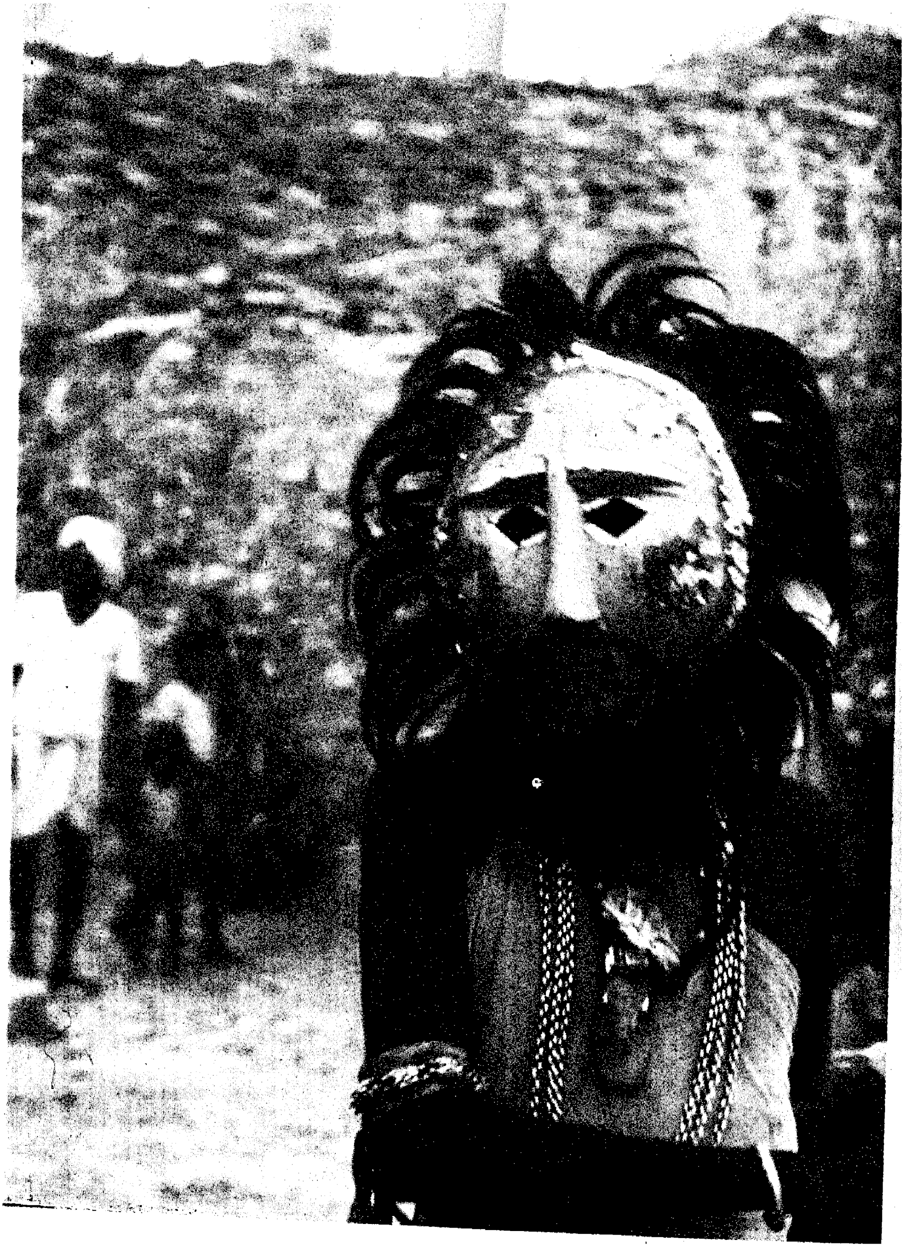

शंकर का प्रतीक राईबूडिया। यह लकड़ी से बना गोल मुखौटा पहनता है जो शिव का प्रतीक है।

देवी की सवारी के लिए नाहर बनाते हैं जिसकी प्राण-प्रतिष्ठा होने पर बच्चों सहित औरतें आशीर्वाद लेने आती हैं।

नाहर पर निकलती देवी की सवारी जब पूरा समुदाय एक तरह से भाव (Trance) की स्थिति में आ जाता है।

प्रहसन से पूर्व जातीय आख्यानों से जुड़े चरित्रों का अवतरण *गवरी* में होता है। देवी अम्बाव का स्वरूप चित्र में देखा जा सकता है।

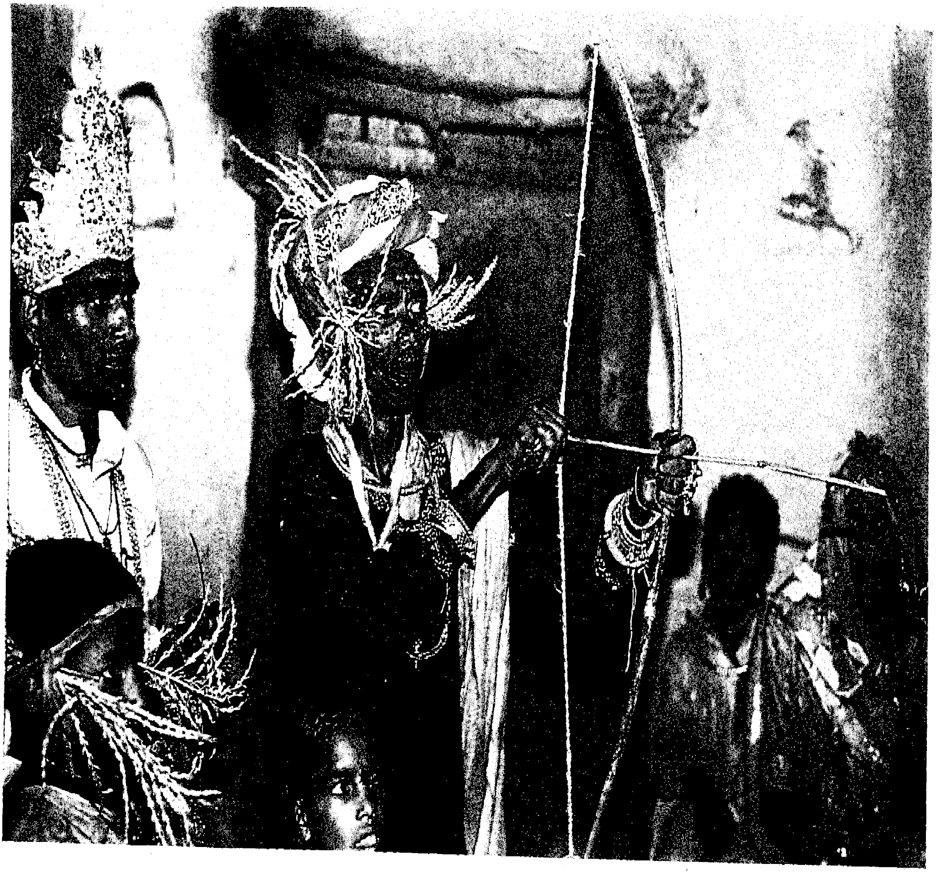

सामाजिक मिथकों से जुड़े पात्रों के प्रहसन। चित्र में हाथ में तीर-कमान लिये *गोमा मीणा* का चरित्र।

गवरी में स्त्री-पात्रों की भूमिका भी पुरुष ही निभाते हैं।

भील मिथक से जुड़ा एक मुख्य पात्र *भियावल*। छातों और चश्मों का गवरी प्रहसन में भरपूर उपयोग देखने को मिलता है।

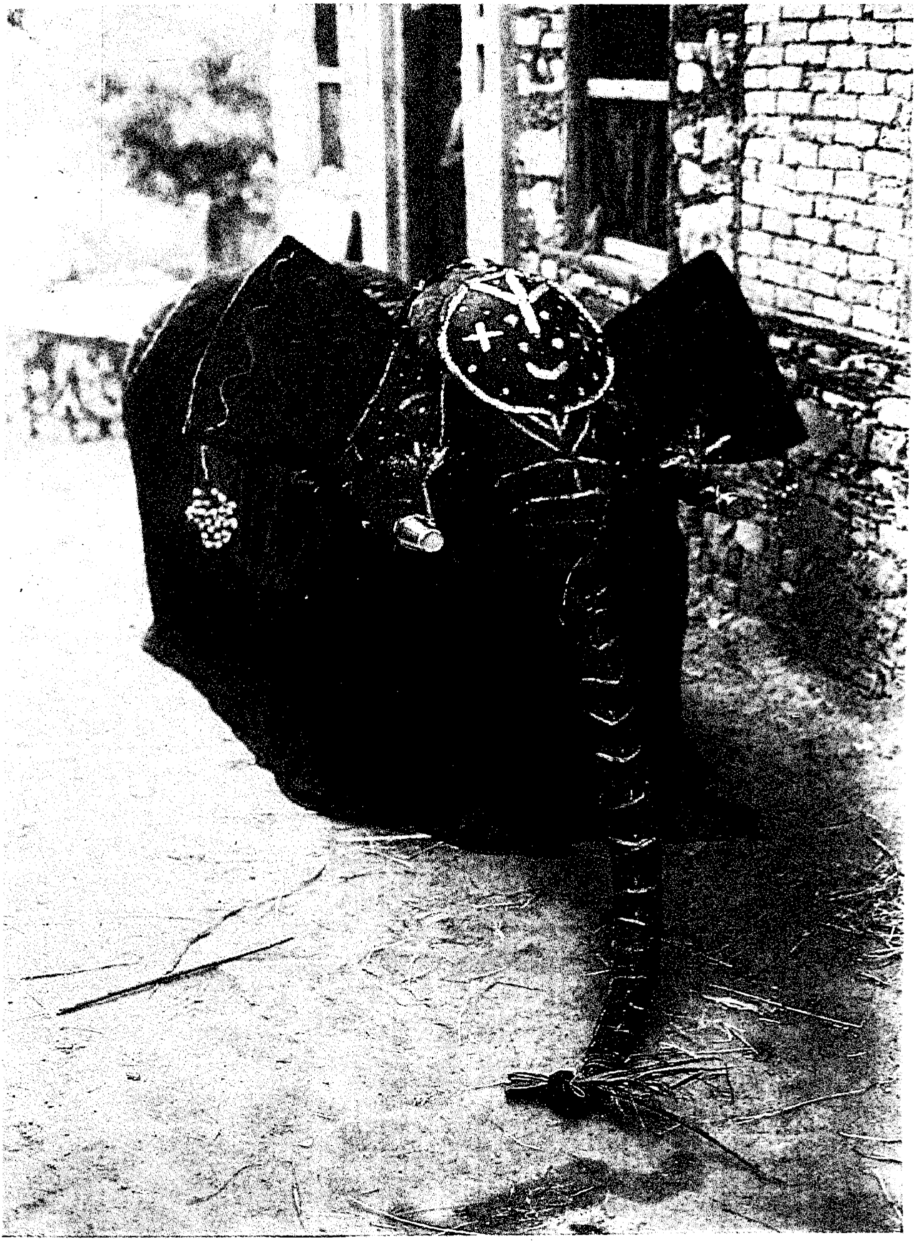

गवरी में जहाँ एक ओर अद्‌भुत नाट्य-प्रवृत्तियों (वेशभूषा से लेकर अन्य साज-सामान) की सर्जना हुई है वहीं विलक्षण शिल्प-कौशल भी है। चित्र में दो चारपाईयों को जोड़कर टोकरे और धान फटकने की छान से बनाया गया यह हाथी असली होने का भ्रम कराता है।

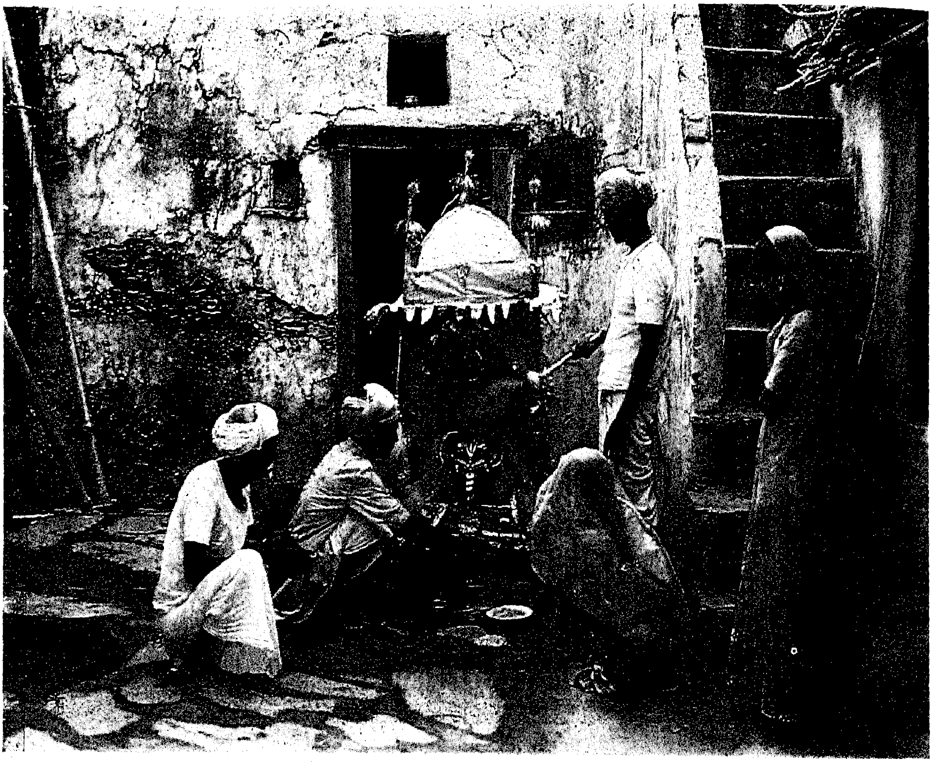

अनुष्ठान के अन्तिम दिन गाँव की अन्य जातियाँ भील समुदाय की *पहरावनी* करती है जिसमें उन्हें वस्त्र इत्यादि भेंट किये जाते हैं। यहाँ से समुदाय की अपने वास्तविक जीवन में वापसी शुरू होती है।

अनुष्ठान पूरा होने से एक दिन पहले गाँव के कुम्हार द्वारा तैयार की गई हाथी पर सवार गौरा की मूर्ति को पूरे अनुष्ठान एवं श्रृद्धा के साथ भील समुदाय ग्रहण करके उसे गाँव के देवरे में स्थापित करता है और पूरी रात मूर्ति के आगे रतजगा करने के बाद अन्तिम दिन इस मूर्ति को तालाब में विसर्जित कर दिया जाता है।

एक रोचक बात यह है कि मूर्ति को विसर्जन के लिए भील समुदाय स्वयं नहीं जाकर बल्कि दूसरी जाति के लोग तालाब पर ले जाते हैं। भील समुदाय तालाब तक मूर्ति के साथ होता है लेकिन मूर्ति का विसर्जन हो उससे पहले पलट कर भागता हुआ अपने घरों को लौट जाता है। ऐसी मान्यता है कि गवरी का विसर्जन देखना उन्हें श्रापित कर देगा।

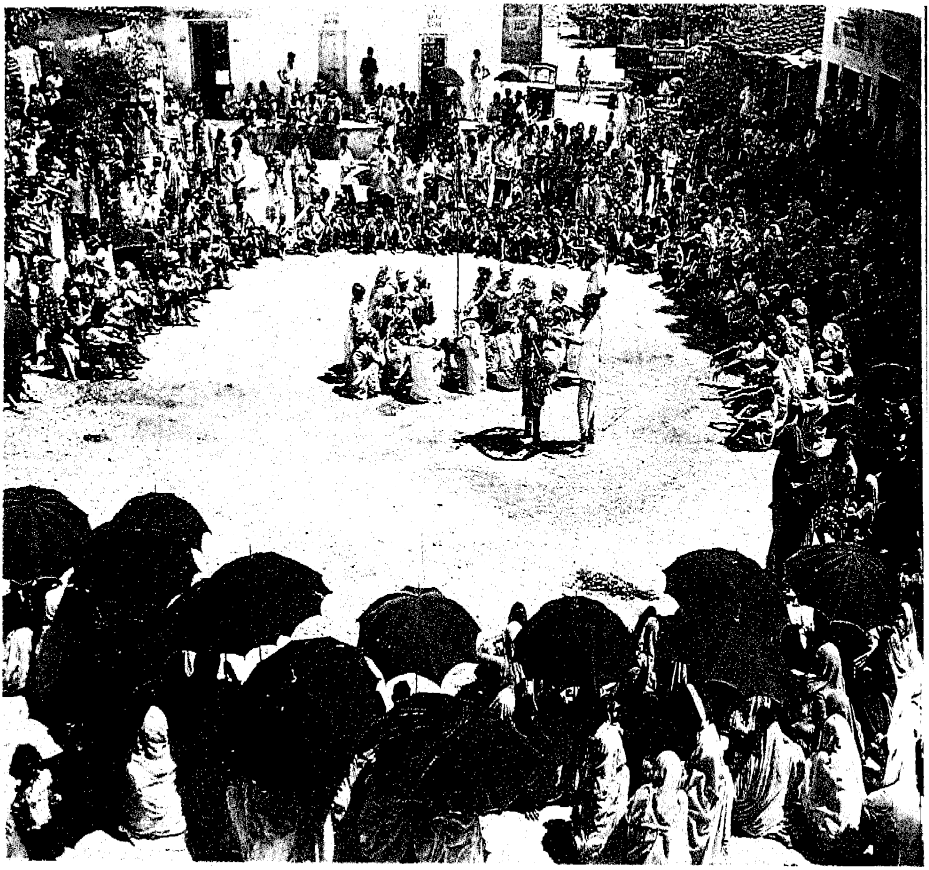

गवरी अनुष्ठान का एक विहंगम दृश्य।

भारतीय लोक का जीवन-दर्शन सैद्धान्तिकी की तलाश

(१)

इस विषय पर सोचते समय जो बात पहले ध्यान में आती है वह यह है कि भारतीय लोक जैसी कोई चीज होती है क्या ? अगर होती है तो उसका पारिभाषिक आधार क्या है? मुझे तो लगता है कि सामाजिक विकास के क्रम में गणों से लेकर जनपदों से होते हुए राज्यों एवं राष्ट्र के बनने तक भारत का जहाँ भी जिक्र आया है, वह एक प्रकार के इलीट कॉनस्ट्रक्ट के रूप में। यह अभिकल्पना मूलत: तत्कालीन समाज के अभिजात्यों द्वारा की जाती रही है जिसका मूल उद्देश्य रहा है, अपने दृष्टिकोणों एवं अवधारणाओं को वहन करने वाली एक बड़ी इकाई की स्थापना। चाहे इनकी अभिकल्पना संस्कृत साहित्य में की गई है। या अंग्रेजी लेखन में। फिर वह भारत कितना कुछ आदर्श था, कितना कुछ यथार्थ कुछ कहा नहीं जा सकता।

अंग्रेजों ने अपनी औपनिवेशिक प्रासंगिकता साबित करने के लिए सबसे पहले इसी भारत की अभिकल्पना पर आक्रमण किया अंग्रेजी सिद्धान्तकारों ने भारत को बंगाली, गुजराती, बिहारी इत्यादि इकाईयों का मौल्टिंगपाट मानते हुए उसे एक राष्ट्र के रूप में मानने से इन्कार किया अंग्रेजों के प्रतिउत्तर में राष्ट्रवादी सिद्धान्त कार खड़े हुए और उन्होंने इसकी प्रतिक्रिया में भारत को एक सुचिन्तित, सुगठित एवं जनव्याप्त अवधारणा के रूप में सामने रखा। हालांकि यह भी सत्य है कि 'भारत एक राष्ट्र' के रूप में अवधारणा की जनव्याप्ति 19वीं, 20वीं शताब्दी में अंग्रेजों से हुए वाद विवाद एवं संवाद के क्रम में ही बढ़ी।

(२)

भारतीयता का एक गुण एवं लक्षण के रूप में अविष्करण हम प्राय: पश्चिमी समाज के 'प्रति सच्चाई' के रूप में करते है। भारतीयता का एजेण्डा ऐसे में पश्चिमी मॉडल के रिसपान्स के रूप में विकसित होता है, न कि एक प्रकार के सहज सच्चाई के रूप में। भारतीयता के ऐसे मॉडल में कई तरह की कुण्ठाएँ दिखाई पड़ती है। इस प्रकार भारतीय एवं भारतीयता एक इन्वेन्टेड रिअलिटी के रूप में विकसित होता है। ऐरिक हाब्सबॉम एवं ट्रान्स रेन्जर जैसे इतिहासकार यह बताते है कि किस प्रकार हम अपना इतिहास इन्वेन्ट करते है। इस इन्वेन्सन के क्रम में हमारा जो निकट का अतीत है उसे हम अति प्राचीन अतीत के रूप में सामने रखते हैं। प्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री मिल्टन सिंग ने भारतीय समाज पर किये अपने कुछ अध्ययनों में यह बताया है, कि किस प्रकार हमारे कई सांस्कृतिक

रूप जो निकट अतीत में विकसित हुए है, उन्हें हम अति प्राचीन सिद्ध करते हुए अपनी अस्मिता का मूलाधार बताते है। वस्तुत: यहाँ संस्कृति एवं इतिहास का अन्वेषण, (इनवेन्सन) अस्मिता निर्माण की एक प्रक्रिया के रूप में सामने आता है। जैसा कि हम जानते हैं कि अपनी अस्मिता निर्माण के क्रम में हमारा ज्यादा सम्बन्ध अपने वर्तमान एवं निकट अतीत से होता है। खैर इस बहस को यही छोड़ते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय लोक जैसे विशेषणों से बचते हुए भारतीय समाज में लोक जैसे विशेषणों का भी प्रयोग किया जा सकता है। खैर अभिकल्पित भारतीय लोक के मानदण्डों में भी सोचें तो अगर आप भोजपुरी, बुन्देली, निमाड़ी या किसी भी एक लोक सांस्कृतिक इकाई का अध्ययन एवं विश्लेषण कर 'भारतीय लोक' की विशेषताओं को समझा जा सकता है। क्योंकि यहाँ हर खण्ड पूर्ण एवं अखण्ड है।

(३)

ऐसे लोक में किसी दार्शनिक सिद्धान्त एवं अवधारणाओं की शोधपरक खोज तो की जा सकती है किन्तु कई बार मुझे लगता है कि वह किसी दार्शनिक सिद्धान्त से संचालित नहीं होता। ऐसा लोक अपने जीवनानुभवों के माध्यम से कुछ रीति विकसित करता है। ये ही रीति उसके जीवन को संचालित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है। ये रीतियाँ जीवन को एक ढाँचे में ढालती है। किन्तु जब समय एवं समाज बदलता है तो ये रीतियाँ लोगों को रूढ़ियाँ लगने लगती है। बदले समय एवं समाज में इन्ही रीतियों के विरुद्ध प्रतिरोध, असंतोष एवं विद्रोह की धारा उत्पन्न होती है जो इन्हें रप्चर करती है। इस प्रकार नयी रीतियाँ पैदा होती है। रोचक है कि लोक सांस्कृतिक स्मृतियों में ऐसी दोनो कोटि की रीतियाँ सक्रिय रहती है।

ऐसा लोक होमोजेनस नहीं होता। लोक की एकरूपता की दुहाई देकर उन्हें मेटानैरटिव में तब्दील कर देने वाले इसकी बहुलता का नकार करते है। वस्तुत: लोक की प्रवृत्ति हट्रोजेनस होती है। उसमें आपस में टकराती कई प्रतिरोधी धाराएं साथ-साथ प्रवाहित हो रही होती है। उनमें अन्तर्द्वन्द्व, अर्न्तविरोध एवं सतत वाद विवाद एवं संवाद चलता रहता है। उसमें शासक एवं शासित दोनों ही प्रकार के जीवन मूल्य आपस में प्रतिरोध, प्रतिकार, वाद-विवाद एवं संवाद करते हुए आगे बढ़ते रहते है। इनमें कोई रुकता नहीं, सभी परिवर्तनशील रहते है। लोक की जो धारा रुक जाती है, वो पराजित हो मृतमान होने लगती है।

प्राय: लोक की चर्चा करते हुए हम ब्राह्मणवादी मूल्यों से भरे प्रभावी एवं स्थापित लोक को ही अपने संज्ञान में लेते है। जबकि उसी के साथ प्रतिरोधी लोक भी सक्रिय रहता है। इन प्रतिरोधी लोक सांस्कृतिक स्वरूपों में मूलत: तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है :-स्वीकार की आकांक्षा, स्वीकार न मिलने पर प्रतिरोध की भावना का उभार, इसी प्रतिरोध से जनित सांस्कृतिक विकल्प।

लोक संस्कृतियाँ प्राय: दूसरी परम्परा के रूप में रेखांकित की जाती हैं। जबकि

अपने मूल्यों एवं जीवन दर्शन के निर्माण के क्रम में प्रथम परम्परा, प्रभावी एवं अधिपत्यशाली परम्परा का बहुत कुछ रिसकर लोक संस्कृतियों के मानस जगत में अपनी जगह बना लेती है। फलत: लोक संस्कृतियों के जीवन दर्शन के कई तत्व एवं कई मूल्य अधिपत्यशाली परम्पराओं से आए होते है। लोक से तो आधिपत्यशाली परम्पराएं संविलयन एवं विभेदकारी सांस्कृतिक अस्मिताओं का अपने मूल्य जगत में एकीकरण करने हेतु सहस्त्राब्दी के तौर पर काफी कुछ लेती ही रहती है। इन सैद्धान्तिक मान्यताओं के आलोक में अगर लोक संस्कृतियों के जीवन दर्शन को समझा जाए तो बेहतर होता।

(४)

लोक का जीवन दर्शन आधिपत्यशाली जीवन दर्शनों में उभर आयी सर्वग्रासी संकटग्रस्तता के विकल्प के रूप में हमारे समक्ष सदैव मौजूद रहा है। किन्तु अपने अभिजात्य बोध के कारण हम प्राय: उनका तिरस्कार ही करते है। क्योंकि हम मानते है कि दर्शन, विवेक एवं ज्ञान की पिटारी तो हमारे पास है, इस निरक्षर लोक के पास क्या है?

कुछ आदर्श होते हैं। वही आदर्श मानवीय समाज के लक्ष्य एवं प्रेरणा होते हैं। वे आदर्श अपने उच्चतम किन्तु लोकप्रिय रूप में लोक के जीवन दर्शन में शामिल होते हैं। मानवीयता जिन तत्वों से मिलकर बनती है, उनके लोकरूप यहाँ हमें दिखाई पड़ते हैं। लोक में चिड़ियाँ जंगल, पेड़, तोता, मोर आदि हमारे दैनिक जीवन के चाक्षुष प्रतीकों के माध्यम से उच्च आदर्श अभिव्यक्त होता है। जटिलता को सरलता में साधने का अनुशासन लोक के पास होता है, जिसके कारण विकास के अनेकों जटिल प्रसंग लोक में अत्यन्त सुलझे ढंग से दिखाई पड़ते है। लोकाचरण से निकले विवेक एवं जीवन दर्शन को अभिव्यक्त कर रही अनेक लोक कथाएँ एवं लोकोक्तियाँ लोक संस्कृति के मुख्य उपादान है। सामुदायिकता सामूहिकता, व्यक्तिवादी आग्रहों का निषेध बहुलताओं के प्रति सम्मान, असहमतियों के लिए व्यापक स्पेस इत्यादि अनेक भाव जिन्हें आज नागरिक जीवन में महत्व देने के बातें हो रही है, लोक संस्कृतियों के मूल स्वर रहे हैं। लोक संस्कृतियों में भी जिन जगहों पर इनका निरादर होता है, वहाँ रूढ़ियाँ पैदा होती है। रूढ़ियों का प्रतिकार भी इसी लोक संस्कृति का हिस्सा है।

लोक संस्कृतियों में अच्छा और बुरा का बोध शाश्वत मानवीय मूल्यों पर ही आधारित होता है। किन्तु अच्छा और बुरा का यह बोध जड़ नहीं होता। विभिन्न वृत्तान्तमक सन्दर्भों में यह बदलता भी है। कई लोक संस्कृतियों में रावण बुराईयों का प्रतीक है तो कई लोक एवं जन जातीय संस्कृतियों में रावण के गुणों का बखान करते हुए उसके नायकत्व को स्थापित किया गया है। किन्तु इसके लिए सम्पूर्ण वृत्तान्तमक ढाँचे में ही आमूल चूल परिवर्तन आपेक्षित होता है। इस प्रकार लोक संस्कृतियों में अनेक शाश्वत बोध तो होते है किन्तु वे रूढ़ एवं जड़ नहीं अपितु परिवर्तनशील होते हैं।

ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, जैसे मानवीय भाव लोक संस्कृति के वृत्तान्तों में नाटकीय भावों का समावेश करते है।

प्रेम, करुणा, वियोग, विडम्बना, संवाद जैसे राग लोक संस्कृतियों के आत्मभाव होते है। लोक संस्कृतियों के जीवन दर्शन के गहरे में अगर जाएं तो आधिपत्यशाली व्यवस्थाओं के प्रति प्रतिरोध के भाव भले ही सूक्ष्म रूप में मौजूद हों किन्तु वंचित, दमित एवं उपेक्षितों के पक्ष में मूल्यों एवं वृत्तान्तों का सृजन अत्यन्त मुखर रूप से दिखता है।

अवधी गीत 'छापक पेड़ छिछुलिया' जैसे गीत भले ही लोक संस्कृतियों के लिखित एवं स्थापित विमर्श में सामने न आये हों किन्तु वे लोक के जीवन दर्शन के सन्दर्भ में आज तक चल रहे अनेक मिथकों के बरक्स एक वैकल्पिक सैद्धान्तिकी की मांग करते है। जिसमें वह जो, नीचे गड़ी एवं छुपी हुई प्रवृत्तियाँ है, वे सामने आये एवं लोक संस्कृतियों के बारे में बार-बार उच्चारित की जा रही महावृत्तान्तों का मिथक छिन्न-भिन्न कर दें।

डॉ. सुरेश मिश्र

भारतीय लोकवार्ता के अंग्रेज अध्येता

लोक की भावनाएं लोकसाहित्य के विभिन्न उपादानों के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं और इसीलिए लोक को समझने के लिए लोकसाहित्य की उपादेयता निर्विवाद है। लोकसाहित्य कई रूपों में अभिव्यक्त होता है और उसमें लोकवार्ता भी सम्मिलित है। साहित्य और लोकवार्ता परस्पर संबंधित हैं क्योंकि ये दोनों अपने विकास के लिए परस्पर अवलम्बित रहते हैं और एक दूसरे का पोषण करते हैं। किसी भी देश के साहित्य और लोकवार्ता के बीच जो रिश्ता है वह कुछ जटिल सा है क्योंकि साहित्य और लोकवार्ता एक दूसरे को आकर्षित भी करते हैं और दोनों में विकर्षण भी होता है। शिक्षित वर्ग द्वारा पोषित साहित्य जब आगे बढ़ता है तो लोकवार्ता पृष्ठभूमि में जाने लगती है। हालांकि यह भी सच है कि साहित्य की जड़ें लोकवार्ता और लोकसाहित्य में निहित होती हैं और लोकवार्ता जनसमाज के अधिक निकट होती है तथा उससे जन जीवन का अंतरंग परिचय मिलता है। साहित्य का अध्ययन करते समय लोकवार्ता की उपेक्षा करना जैसे साहित्य की जड़ों की और उसके अविच्छिन्न अतीत की उपेक्षा करना है। लोकवार्ता अपनी विशेषताओं के साथ उतनी ही प्राचीन है जितनी कि संसार की प्राचीन सभ्यताएं। वैसे सभ्यता के उदय के साथ ही लोकवार्ता का विकास होना प्रारम्भ हुआ, पर लोकवार्ता का व्यवस्थित और वैज्ञानिक अध्ययन 18वीं सदी में प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार के अध्ययन पहले पहल यूरोप में हुए और इसके माध्यम से विद्वानों ने मानव समाज के मन के अतीत में झांकने का प्रयास किया। ऐसा कहा जाता है कि सबसे पहले इस किस्म के अध्ययन पर आधारित पुस्तकें पहले पहल इंग्लैंड और जर्मनी में प्रकाशित हुईं। ये अध्ययन पहले नृतत्वशास्त्र और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से किये गए थे पर बाद में इतिहास, साहित्य और मनोविज्ञान के अध्ययन में भी इन्हें उपयोगी माना जाने लगा।

भारत में लोकवार्ता की जड़ें बहुत प्राचीन होने पर भी यहां उसका व्यवस्थित अध्ययन 19वीं सदी में होना प्रारम्भ हुआ और यह आश्चर्य की बात है कि प्रारम्भ में यह अध्ययन भारतीय विद्वानों ने नहीं अंग्रेज अध्येताओं ने किया। इन अध्येताओं ने भारत के जनसाधारण के चिन्तन को समझने के उद्देश्य से भारतीय लोकवार्ता का अध्ययन किया और उसके माध्यम से भारतीय समाज की जड़ों को और उसके विभिन्न घटकों के मन को समझने की कोशिश की। इन अध्येताओं में जिज्ञासु अंग्रेजों के साथ ही वे अंग्रेज भी थे जो धर्म प्रचार करने आए थे या प्रशासन के ऊंचे पदों पर थे। उनके मन में इस देश की समृद्ध संस्कृति को, उसके अतीत को और यहां के लोकमन को समझने की इच्छा थी और इस इच्छा ने उन्हें

इस अध्ययन के लिए प्रेरित किया।

अठारहवीं सदी के अंत में याने सन् 1784 में कलकत्ता में सर विलियम जोन्स द्वारा ऐशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना होने से भारत संबंधी अध्ययन को बहुत बल मिला और कई अंग्रेज विद्वान संस्कृत साहित्य और लोकतत्व का अध्ययन करने में जुट गए। लेकिन तब उनके अध्ययन व्यवस्थित नहीं थे। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में पादरी विलियम मार्टन, पादरी रेनाल्ड हरबर और विलियम यीट्स ने लोकवार्ता से संबंधित कुछ अध्ययन किये पर वे भारतीय लोकवार्ता के भण्डार को और उसके चरित्र को उजागर करने में महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध हुए। इस अवधि में जो सबसे उल्लेखनीय काम हुआ वह है कर्नल टाड का। कर्नल टाड ने राजस्थान में रेजिडेंट के पद पर काम करते हुए राजपूतों के इतिहास, लोकविश्वासों, रहन सहन, रीतिरिवाज आदि पर गहन अध्ययन करके **एनल्स एण्ड एंटीक्विटीज़ ऑफ राजस्थान** ग्रंथ का प्रणयन किया जो सन् 1829 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद मैक्समूलर ने वैदिक मिथकों का अध्ययन करके भारतीय लोकवार्ता की दिशा में वैदिक काल के योगदान को उजागर किया। तदनन्तर जार्ज काक्स ने इस काम को आगे बढ़ाते हुए सुझाया कि इन मिथकों का अध्ययन व्यस्थित प्रणाली से होना चाहिए तभी प्राचीन भारत के मन को समझा जा सकेगा।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब नृतत्वविज्ञान और समाजविज्ञान संबंधी वैज्ञानिक अध्ययन हुए तब विद्वानों का ध्यान भारत की लोककथाओं, लोकगीतों, कहावतें आदि की ओर गया और भारतीय लोकवार्ता के व्यवस्थित अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ। सबसे पहले इस काम का प्रारम्भ जेम्स लोंग ने किया। जेम्स लोंग बंगाल में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए आए थे और इंग्लैंड की फोकलोर सोसायटी के सदस्य भी थे। बंगाल में रहते हुए उन्होंने बंगला कहावतें एकत्र कर डालीं और 1868 में **प्रवाद माला** शीर्षक से बंगला कहावमें प्रकाशित कीं। 1881 में जब उन्होंने बंगला कहावतों का एक दूसरा संग्रह **ईस्टर्न प्रावर्ब्स एण्ड एंबलम्स** प्रकाशित किया तब लोगों को पता चला कि कहावतें किस प्रकार भारतीय समाज के जीवन मूल्यों की झांकी भी प्रदर्शित करती हैं। उन्होंने रूसी और केल्टिक भाषा की कहावतों पर भी काम किया।

जेम्स लोंग से लोकवार्ता के व्यवस्थित अनुसंधान की प्रणाली की शुरुआत हुई और फिर लोकवार्ता के विभिन्न पहलुओं के बारे में अंग्रेज अध्येताओं की कृतियां एक के बाद एक सामने आने लगीं। 1865 में जेम्स कार ने हिन्दुओं के जीवन से संबंधित एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें हिन्दुओं के रहनसहन, रीतिरिवाज, त्यौहारों और विश्वासों का उल्लेख है। इसके तीन साल बाद 1868 में विलियम विलसन हन्टर ने **एनल्स ऑफ रूरल बंगाल** नामक अपनी पुस्तक में संथाल जाति का और उनकी लोकगाथाओं का विवरण दिया है। 1868 में ही मिस फ्रेयर की पुस्तक **ओल्ड डेकन डेज** प्रकाशित हुई। 1870 में टामस हरबर्ट लेविन की पुस्तक **दी वाइल्ड रेसेज आफ साउथ ईस्टर्न इण्डिया** प्रकाशित हुई

जिसमें चटगांव पहाड़ियों की जनजातियों की जीवनशैली का विवरण था। अहमदाबाद के जज अलेक्जेंडर फोर्ब ने गुजरात का जो इतिहास **रासमाला** के नाम से लिखा उसमें उन्होंने कई किंवदंतियां और लोकगीत दिये जिनसे गुजरात के लोकजीवन का आस्वादन होता है।

1872 में एडवर्ड डाल्टन ने छोटा नागपुर की जनजातियों के लोकगीतों और विश्वासों पर एक पुस्तक प्रकाशित की। उसी साल चार्ल्स गोवर की किताब **फोक सांगस आफ सदर्न इण्डिया** प्रकाशित हुई जिसमें दक्षिण भारत के लोकगीत संकलित थे। 1879 में मेव स्टोक्स की पुस्तक **इण्डियन फेयरी टेल्स** प्रकाशित हुई। 1884 में आर सी टेम्पल ने पंजाब के प्रसिद्ध वीरों की लोकगाथाओं को अपनी पुस्तक **लीजेन्डस आफ द पंजाब** नाम पुस्तक में प्रकाशित किया। अगले साल बच्चों से सुनी हुई पंजाब और काश्मीर की कहानियों का संग्रह **वाइड अवेक स्टोरीज** प्रकाशित हुआ जिसे फ्लोरा एनी स्टी और आर.सी. टेम्पल ने मिलकर लिखा था। इस किताब की खासियत यह थी कि इसमें कहानियों के स्रोत और संकलन के तरीके का भी उल्लेख था। टेम्पल ने भारत के लोकजीवन का गहन अध्ययन किया था और उन्होंने टाउनी के द्वारा अनूदित किये गए कथासरित्सागर के प्रथम खण्ड की भूमिका में लोककथाओं का अच्छा विश्लेषण किया है और लोकवार्ता संबंधी एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कथासरित्सागर की तुलना योरोपीय उदाहरणों से करते हुए बताया कि कथारूपों का अध्ययन करने के लिए पहले उनके आधारभूत तत्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है जो इस प्रकार की सभी लोक–कथाओं में बार–बार प्रयुक्त होते हैं।

भारतीय भाषाओं के अध्ययन के संदर्भ में सर जार्ज ग्रियर्सन के योगदान को नहीं भुलाया जा सकता। उनकी विख्यात 'कृति लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' है जिसमें उन्होंने भारतीय भाषाओं का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किया। लेकिन जार्ज ग्रियर्सन ने लोकसाहित्य पर भी काम किया। 1884 में उन्होंने बिहारी लोकगीतों का संग्रह **सम बिहारी फोकसांग** पुस्तक प्रकाशित की। उन्होंने भोजपुरी लोकगीतों का संकलन भी प्रकाशित किया और उसकी भाषावैज्ञानिक व्याख्या के साथ समाजशास्त्रीय व्याख्या भी की। उन्होंने लोकवार्ता से संबंधित कुछ प्रसिद्ध लेख भी लिखे जिनमें उल्लेखनीय हैं **द सांग आफ आल्हाज मैरेज, गोपीचन्द** और **नयनकवा बनजारा**। इनके मूल पाठ के साथ उन्होंने इनके अंग्रेजी अनुवाद भी दिये और जरूरी टिप्पणियां भी दीं। **बिहार पीजेनट लाइफ** नामक किताब में उन्होंने बिहार के ग्रामीण जीवन से संबंधित शब्दावलियां दी हैं।

भारत की लोकवार्ता की चर्चा करते समय विलियम कुक के योगदान को नहीं भुलाया जा सकता। 1893 में उनकी कृति **दि पापुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर आफ नार्दर्न इण्डिया** प्रकाशित हुई जिसमें उत्तर भारत के जनजीवन के सभी पहलुओं की विस्तृत व्याख्या दी गई है। इस ग्रंथ को भारतीय लोकसंस्कृति के अध्ययन का मील का पत्थर माना जाता है और उसकी प्रतिष्ठा लोकजीवन के

कोष के रूप में है। उन्होंने इस कृति में लिखा है कि यह ग्रंथ उन्होंने इसलिए लिखा कि जिससे अंग्रेज अधिकारी भारतीय ग्रामीण जीवन को समझ सकें और यूरोपवासी अपने देश के ग्रामीणों के प्रति उदार हों। वे इस अध्ययन से उन जड़ों को पहचानना चाहते थे जिसपर हिन्दू धर्म टिका हुआ है। कई सालों तक वे **नार्थ इण्डियन नोट्स एण्ड क्वेरीज** नामक पत्रिका का सम्पादन करते रहे जिसमें लोकसंस्कृति से संबंधित लेख नियमित रूप से प्रकाशित होते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विलियम कुक ने लोकवार्ता के अध्ययन पर अपनी गहरी छाप छोड़ी और आगामी अध्येताओं पर उनके विचारों और अध्ययन शैली का जबर्दस्त असर पड़ा।

1895 में जे डी ऐंडरसन का एक संकलन प्रकाशित हुआ जिसका नाम था **कलेक्शन आफ कछारी फोकटेल एण्ड राइम्स** जिसमें असम की कछारी जाति की लोककथाओं और शिशुगीतों को संकलित किया गया है। 1899 में आर एम लाफ्रेनेंस **सम सांग आफ द पोर्चगीज इण्डियन्स** के नाम से गोआ निवासी भारतीयों के लोकगीतों का संकलन प्रकाशित कराया।

उन्नीसवीं सदी खत्म होते-होते कुछ भारतीय अध्येताओं ने भी भारत के विभिन्न भागों की लोकवार्ताओं का अध्ययन प्रकाशित किया और यह क्रम बीसवीं सदी में और भी तेजी से चला। अब लोकवार्ता के अध्ययन में कई भारतीय विद्वान जुट गए और इस दिशा में उल्लेखनीय काम किया। इसके बावजूद कुछ अंग्रेज भारतीय लोकवार्ता के अध्ययन और संकलन करते रहे और उनकी पुस्तकें प्रकाशित होती रहीं। पी.ओ. बाडिंग के संग्रह को सेसिल हेनरी बोम्पास ने अनूदित करके **फोकलोर आफ द संथाल परगनाज** के नाम से 1909 में प्रकाशित किया। पंजाब की कथाओं को स्विनर्टन ने और बंगाल की कथाओं को विलियम मैक्कुलाच ने प्रकाशित किया। लेकिन बीसवीं सदी के मध्य में डॉ. वेरियर एलविन ने लोकवार्ता के संग्रह का जो काम किया वह अद्‌भुत है। वे मूलतः पादरी थे लेकिन बाद में उन्होंने यह काम छोड़कर मध्यप्रदेश के आदिवासियों के अध्ययन में अपना जीवन लगा दिया। वे कई साल तक मध्यप्रदेश के मण्डला जिले में एक गांव में रहे और वहीं रहकर उन्होंने गोंड, अगरिया और बैगा जाति का अध्ययन किया। इस काम में उन्हें एक आदिवासी श्यामराव हिवाले का अनन्य सहयोग मिला। इस दौरान उन्होंने एक आदिवासी कन्या से विवाह कर लिया और फिर आदिवासी जीवन में रचबस गए। उन्होंने बस्तर की मारिया जनजाति का भी गहन अध्ययन किया। उन्होंने 1939 और 1958 के बीच में करीब 15 पुस्तकें लिखीं। इनमें लोकवार्ता और लोकगीतों से संबंधित कुछ पुस्तकें हैं **फोक टेल्स आफ महाकोशल, फोक सांग्स आफ छत्तीसगढ** और **मिथ आफइण्डिया** जिनमें एलविन ने सिर्फ लोकगीतों और लोकवार्ताओं का संकलन ही नहीं किया बल्कि उनकी विस्तृत व्याख्या करके उसके पीछे छिपे जनजातीय मानस के मनोविज्ञान को पढ़ने का प्रयास भी किया।

इसमें सन्देह नहीं कि लोकवार्ता और लोकसाहित्य पर काम करने वाले अंग्रेज

लेखकों की अपनी सीमाएं थीं। स्थानीय बोली और भाषा का ज्ञान न होने के कारण उन्हें दुभाषिये की मदद लेनी पड़ती थी और इससे संभवत: संग्रहीत सामग्री के अर्थ तथा भाव में कुछ बदलाव जरूर आया होगा। ऐसा मानना ठीक नहीं है कि सभी अंग्रेज विद्वानों ने सिर्फ प्रशासकीय आवश्यकताओं के कारण भारतीय जनजीवन को समझने के लिए ये अध्ययन किये। यदि ऐसा होता तो वे शायद ग्रंथों का प्रणयन नहीं करते, बल्कि कुछ नोट और रपट लिखकर सरकारी काम चला लेते। उन अंग्रेज विद्वानों में अधिकांश ऐसे लोग थे जो वास्तव में भारत के अतीत और भारतीय मन को गहरे तक समझना चाहते थे और उन्होंने पूरी अकादमिक रुचि से भारत की लोकवार्ता और लोकसंस्कृति का अध्ययन किया।

'हो' जाति के लोक गीत

बिहार, उड़ीसा और छोटानागपुर के सघन जंगलों में रहने वाले ये 'हो जाति' के लोग हमारी नागरी सभ्यता से कोसों दूर हैं। जंगल उनका घर है झाड़-झंखाड़ उनके साथी हैं। फिर भी मानव संवेदनाओं से उनका हृदय अछूता नहीं, नृतत्वशास्त्री डॉ. नर्मदेश्वरप्रसाद ने बड़े परिश्रम से 'हो जाति के कुछ लोक गीत संकलित किये हैं जिनमें मानव संवेदनाओं की धड़कनों का स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है।

१.

पहाड़ पर है सेमल के पत्ते,
डाली-डाली पर हैं सुन्दर पत्ते।
नीचे सुन्दर, बीच में सुन्दर,
सुन्दर हैं पत्ते
तोड़ कर मैला कर दो,
ये सुन्दर पत्ते।

२.

युवक, बोली सुनना चाहते हो तुम मेरी!
गीत सुनना चाहते हो तुम मेरे
प्रातः से दोपहर तक गीत सुनाऊंगी मैं तुम्हें।
गीत सुनाकर चांद भी दिखाऊंगी मैं तुम्हें।

३.

उल्लसित हृदय से कहते हो,
तो चलो चलें।
लेकिन ले जाकर ऐसा न हो
कि कोने में या कहीं और रख दो।
मन कहता है तो चलो चले।

४.

दांत तुम्हारा है उज्वल!
कपोल भी तुम्हारे है गोल!
मन कहता है चूम लूं इन्हें।

५.

गीत सुनना चाहते तुम!
बात करना चाहते तुम!
प्रातः से बारह बजे तक
गीत सुनाऊंगी मैं तुम्हें!
चांद भी डुबा दूंगी मैं।

६.

मिर्चा पका है झुंड-झुंड,
अटल फूल है सफेद-सफेद।
ऐसे स्थल पर ही जब मिलन,
चाह उठती है हंसने की।
दो सिपाहियों ने पकड़ा मुझे,
जंगल में जाने पर।

७.

टेबुल के ऊपर साहब है;
साहब के ऊपर बाबू है।
उन लोगों पर फैली किताब है।
ऊपर सड़क पर साहब है;
नीचे सड़क पर साहब है।
चिट्ठी मेरी पढ़ दीजिए,
जल्दी से आकर साहब।
न पढ़ोगे यदि चिट्ठी तुम!
न पढ़ोगे यदि किताबें तुम;
समझ लो कि रोक लगा दूंगी मैं,
तुम्हारे आने के रास्ते पर।

८.

ऐ खजूर के वृक्ष!
धूमिल अवलोकित हो रहा सूर्य किरणों से
पथ किनारे के खजूर।
हम नहीं जायेंगे तुम्हारे पथ पर,
धूमिल हो जाने के भय से।

९.

क्षुधा तृप्त कर दो,
भूख लग रही है।
तृष्णा दूर कर दो,
प्यास लग रही है।
कहां देखे हो पानी–राम राइसो?
(राम राइसो ने तब कहा)
दिकु के तड़ाग में जल है।
रानी के बंगला में जल है।

१०.

पवन चली ऊपर से, पवन चली नीचे से,
कपोत के जोड़े आये हैं, श्याम और खेत से।
मस्तक पर रख रूमाल हाथ में पकड़ लीजिए,
सुन्दर दलदल स्थान पर पालन पोषण कीजिए।
मूल्य लगाइए इक्कीस बाइस, मूल्य उनका लगाइए (न)।

११.

फूलगोबी का फूल क्यारी में है ऊपर।
फूलबोगी का फूल क्यारी में है नीचे॥
देखता है दिकू फूलगोबी के फूल को;
बैठकर देखा है दिकू फूलबोगी के फूल को;
नहीं देंगे दिकू टाटा से मंगायी हुई फूलगोबी॥

१२.

ऊपर वे दो, नीचे वे दो,
घुंघराले बाल वाले।
उस पथ से आ रहे।
दृष्टि पड़ी थी तुम पर।
देख युवती युवक की
पथ किनारे जा रही।

१३.

पर्वत पर है पत्ते बहुनिया के
सुन्दर थे सभी पत्ते,
फुलगी के भी पत्ते,
जिस झाड़ी का जड़ था।
मुरझा दो उन दो बीच की दो पत्तियों को
तोड़ कर अपने हाथों से।

१४.

चाइबासा में पड़ाव डाला,
कलकत्ते में नौकरी की,
आगमन है उसका
खड़ी पथ पर बाट जोहती।
पानी दूंगी पीढ़ा दूंगी और दूंगी भोजन,
घर यदि वह आवे, सत्कार करूंगी जी भर।

१५.

टेबुल पर है किताब;
किताब पर है दवात;
दवात पर है पेन्सिल;
ऐ दिकु, एक बार तुम पढ़ते हो
और दूसरी बार तुम लिखते हो।
ऐ दिकु, तुम क्या-क्या लिखते पढ़ते हो?

१६.

किनारे पथ के है केन्दु का पत्ता;
किनारे पगडंडी के है केन्दु का पत्ता;
हिन्दी और बंगला में है उसकी बात।
ठहरो ऐ अमीरजादा!
हमलोग भी साथ चलेंगे
हिंदी और बंगला सीखते हुए।

१७.

साथी! जा रहे तुम हवाई जहाज पर,
मैं भी जाऊंगी धूप की मोटर पर।
श्याम और श्वेत अश्व है ऊपर,
साथी विदा कर दो मुझे।

१८.

अटपटी वाणी न कहो, ऐ मेरे फुफेरे भाई।
देश हमारा है पथरीला, असंतुष्ट न हो मेरे भाई!
हड़िया को मैं फोड़ दूंगी;
बर्तन को मैं तोड़ दूंगी;
डाट फटकार तब सुनियेगा
आप ही मेरे छोटे भाई!

१९.

पर्वत चढ़ने का कारण लकड़ी और पत्तों का अभाव
भाई हम पर्वत पर चढ़े थे।
भेंट हुई दो सिपाहियों से वहां,
भाई हमें उनसे भेंट हुई थी।
ले गये वे हमें दो बंगला श्याम और खेत में
भाई हमें वे ले गये थे।

२०.

पत्ते पान ऊपर तड़ाग के;

पत्ते पान नीचे तड़ाग के;
खाकर उस पत्ती को,
हो गये तुम बुद्धिमान !
जब शिक्षा प्राप्त कर रहे थे तुम
रमणी तब लाये थे तुम।
औ बहक गये उस बुद्धि में
पत्ते पान का खाकर।

२१.

उमड़ घुमड़ कर बरसे पानी
सन सनासन चली पवन,
घर चले हम लोग।
जायेंगे जब तुम लोगों के घर
राशि मिलायेंगे दोनों की।
उस जोड़े फूल से जो थल के सदृश है।
जायेंगे जब हम लोगों के घर
पलायन तब होंगे हम धोती अपनी समेट-समेट कर।
भय अपने इज्जत की।

खाम्तियों का लोक साहित्य 'मुव्-खाम्'

'मुव् खाम्' (प्रेम गीत) की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खाम्तियों में जनश्रुति है कि पहले मनुष्य में स्त्री पुरुष में काम तृष्णा नहीं थी। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने मनुष्य को तो बनाया, किन्तु उनमें सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं थी। सृष्टिकर्ता ने काम तृष्णा वृद्धि हेतु मनुष्य के लिये चील द्वारा अमृत भेजा। उस समय मनुष्य घर में नहीं था, इसलिये स्त्री ने अमृत को अधिक मात्रा में खा लिया। पुरुष को कम प्राप्त हुआ। इसलिए स्त्री में काम तृष्णा अधिक होने का विश्वास किया जाता है। कहा जाता है कि तभी से स्त्री ने 'मुव् खाम्' (प्रेम गीत) गाना प्रारम्भ किया। स्त्री चील को प्रसन्न रखने हेतु गाती है।

> याहूङ् चाइ काइ अन पुत्रयि पि तुङ्।
>
> *'हे चील यदि तुम मेरे चिगनों को छीन ले जाओ तो मैं तुम्हें बाधा नहीं दूंगी। मैंने अधिक मात्रा में अमृत को खाया है, मेरे पति से न कहना।'*

ऐसा कहा जाता है कि तभी से स्त्री में गाने की शक्ति अधिक होती है। इसलिए कि स्त्री ने सृष्टिकर्ता द्वारा भेजा हुआ अमृत का अधिक हिस्सा खा लिया था।

पहले 'मुव्-खाम्' गाने की प्रतियोगिता बौद्ध विहारों में होती थी। स्त्री एक ओर रहती थी तथा पुरुष दूसरी ओर से प्रतियोगिता में भाग लेते थे। यह प्रतियोगिता 'साङ् क्येन्' उत्सव के अवसर पर होती थी।

अरूणाचल के खाम्ति इन प्रेम गीतों को 'खाम् पालि' कहते हैं, और डिब्रुगढ़ के खाम्ति 'मुव् खाम्' अथवा 'मो खाम्'। इन 'मुव् खाम्' को युवक युवतियों की प्रेम भावना का उद्गार कह सकते हैं। इसी प्रकार के कुछ गीतों का मूल के साथ, हिन्दी भावार्थ सहित दिया जा रहा है। इन गीतों में खाम्ति समाज का दर्पण है।

१.

ना हवङ् हिनु लुङ् खाम् नाङ् साउ काउ ये तुव् न्वङ् उव् खाम्।
स्येङ् ऐ, खाम् ....ऐ.......... ।
पुव् नाङ् लुक् चाउ हुव् पित् अन् वाङ् त्वय फ्वङ्......... ।
ना हवङ् हिन् लुङ्खाम् नाङ् साउ काउ तुव् न्वङ्,
पाउ नायि साइ तुव् वान् त्येङ् पेत् पाउ खाम्,
मा लि नम् ..... ऐ..... ।

तुम्हारे बड़े घर के पास उत्तर दिशा में पोखरी है, उसमें हंस चरते हैं, उन्हें तेरे

पिता सुबह जल्दी उठकर भगाते हैं। तुम्हारे घर के उत्तर दिशा में पोखरी के तट पर 'पाउ खाम्' (सुगन्धित स्वर्ण रंग का पुष्प) का पौधा है, वहां हर रोज सुबह शाम वह हंस आकर चरता है।

२.

आइ हम् माइका, मिुङ स्येङ्, माउ पो सा..... ऐ .....?
आइ हम् मायि, सिुव् सन्, निुव् स्वङ् मा,
खेन् त्वन् याउ ऐ .....।
आइ हम् माइका, मिुङ स्येङ् माउ पो ख्व्यो.....
आइ हम् मायि, स्येङ् सायि माइ साइ, खुन् नाइ..... ऐ।
ह्वत् तु चाउ नाउ.....ऐ.....।

गुणखरै लकड़ी से जो सुगन्धी होती है, वह उतनी मनमोहक नहीं है। जितना कि तुम्हारा रूप सौन्दर्य मनोहर है और हे प्रिया! वह गुणखरै पेड़ भी उतना सुन्दर नहीं है, जितना कि तुम सुन्दर हो।

३.

खुन् पाइ ताङ् ये खि ताङ् मासिङ् थो वैला नाम् .....ऐ.....।
स्येङ् .....ऐ..... पि खाउ पाइ खाम् नाम्नोमा.....ऐ.....।
खा क्वङ् क्योव्.....।
खुन् पाइ ताङ् ये खि ताङ् माबैला सिङ् थो,
पि खाउ तुङ् खिुन् आका फालुम् मोक् .....ऐ.....।
खा क्वङ् क्यों हाङ् चाउ क्वत्..... ऐ.....।

हे मेरी प्राण! जिस प्रकार सिद्धार्थ ने ज्ञान के सन्धान में घोड़े पर सवार हो कर अनोमा नदी पार किया था, उसी प्रकार मैं भी प्रेयसी के संधान में निकला हूँ।

४.

खुन पाइ ताङ्या मुन् लुइ थिुन् नाम्.....ऐ.....। स्येङ्.....।
आउ खाउ नुक् मुन् लान् युथिुन् .....ऐ.....मुन्.....
चायि चाई।
खुन् पाई ताङ् या मुन् लुई ताङ्, खाम्.....ऐ.....।
आउ खाउ साउ फि यु हिम् ताङ् क' ऐ.....
मुन् चायि चाउ नाम्..... ऐ।

मेरे मार्ग में जाते समय पेड़-पौधे प्राकृतिक सौन्दर्य बढ़ाते हैं और लाखों चिड़ियों की ध्वनि मेरे मन को मुग्ध करती है, तथा रास्ते के पास की अप्सराएं

मेरे तप्त हृदय को शान्ति पहुंचाती है।

५.

हय पा क्येम् ख' चाम्का स्वङ्लु नाम्.....ऐ, स्येङ् .....ऐ।
पि खाउ माउ याङ् ताङ् डाउ येनाम् चिक्तु.....ऐ।
लु लिङ् पान् हाङ् चाइ ता..... ऐ..... ।
हय पा क्येम् नो स्वङ् लु चाम्का खाम्.....ऐ..... ।
पि खाउ माउ याङ् ताङ् सित्वा स्येङ् सायि निङ् क्लिा नाइ।
लु लिङ् पान् हाङ् चाउ ता.....ऐ..... ।

हे मेरी प्रिया! मैंने पूर्व जन्म में तुम्हें पाने के लिए पुण्य कर्म कर जल उत्सर्ग (ये नाम्) नहीं किया था। जिसके कारण मुझ अभागे को तुम्हारी वेणी पर लटकाया हुआ एक पुष्प ही मिला फिर भी मैं स्मरण करता रहूँगा।

६.

तुन् पुथी अंङ् तो .....ऐ.....स्येङ्.....ऐ।
आन् ति पिन् ताङ् डाउ येनाम् कुसो नाइ स्येङ् पाइ तायि।
वुन् नङ् तो पुथीखाम्, स्येङ्, स्वङ् हा पान् अन्
त्याङ् पिन् मे नाइ या पाइकेता .....ऐ..... ।

उस जल उत्सर्ग के कुशल, पुण्य प्रभाव से ही तुम मेरी अर्धांगिनी हुई हो। हम दोनों ने पूर्व जन्म में बोधि वृक्ष में संकल्प किया था।

७.

चाम्कस = सोवाञङ् नाम् ..... ऐ .....,
स्येङ् .....ऐ पि मायि मुङ् ताङ्
फा य्वम् मान् लिङ् हङ् ऐ..... माउ थाङ् मा।
खेवा ञङ् चाम्का पि खाउ नुङ् ताङ् लिङ् स्वङ्
साङ्कान् खाम् नाइ माउ थाङ् ताउ खाम्..... ऐ..... ।

हे मेरी चाम्का, मुझ संन्यासी (भिक्षु) से तुम क्यों प्रेम में फंसी हो। मैं पीत वस्त्र-चीवर को धारण किये हूँ, इसलिए मैं तुम्हारे पास तक पहुंच नहीं सकता हूँ।

८.

वाइ लाङ् खुन् का मिङ् पुन सिक।

खाम् काउ तिङ् पि हायि खाइ ना खाम्.....ऐ..... ।
स्येङ्..... ऐ..... ।
खाम् काउ आउ ताउ सितो काइ सि थाइ खिङ् चाइ..... ।
वाइ लाङ् खुन् का मान् पिुन् सिक'।
खाम् काउ तिङ् पि हायिनाउ ना.....ऐ....., स्येङ्.....ऐ।
खाम् काउ आउ ताङ्साइ खाउ क्वु क्वङ् मु नाइ वोइ ञवङ् क्येव हाङ्
चाउ ता......ऐ...... ।

हे मेरी प्रिया! मेरे विदेश में रहने पर मेरे मंगल जीवन की कामना कर, तुम देवता के नाम पर एक मुर्गा चढ़ा देना, जिससे मेरा कल्याण हो और साथ सफेद बालू से स्तूप निर्माण कर मेरे कल्याण के लिए धर्म (बुद्ध) के नाम पर दान कर दो।

९.

क्वङ्मु स्वङ् हा पिन्वङ् ये ताङ् मिुङ् पाक् त्येङ नाम् ...ऐ..... ।
पि मायि माउ नाइ ता ताङ् नाम् हान् ताङ् काइ लाउ ।
क्वङ् मु स्वङ् चाउ पिन्वङ् ये ताङ् पाक् त्येङ् वाङ् हिुन्।
पि मायि माउ नाइ ता ताङ्, हान् ताङ् लि लाङ् खाम् नाइ,
मान् काङ् खाम् हाक्फ याउ.....ऐ..... ।

हे प्रिये, देश के मध्य भाग में हमने प्रेम रूपी स्तूप (क्वङ्मु) का निर्माण किया था, किन्तु वह अपूर्ण ही रह गया है, यानी बीच में ही हमारा प्रेम-सूत्र टूट सा गया है।

१०.

चाम्का, खोवा अङ् नाम्......ऐ..... ।
स्येङ् .....ऐ.....,
पि खाउ ख्वन् पिन् मुन् हिुव् फा लिुङ् क'.....ऐ, ख्यत फि कुन्।
खोवा अङ् चाम्का स्येङ् .....ऐ..... ।
पि खाउ ख्वन् पिन् चिक् त्येङ् नुव् फा नाइ।
ख्यत् कि कुन् आउ खिुत् क्वत्.....ऐ।

हे चाम्का, जिस प्रकार पीत वस्त्र, चीवरधारी भिक्षु देव मनुष्य को धर्म में दीक्षित कर सुमार्ग पर ले जाते हैं, उसी प्रकार मैं भी तुम्हें प्रेम बन्धन में लाना चाहता हूँ। इतना ही नहीं चाम्का! बुद्ध होकर तथागत ने लोक का कल्याण किया। तुम्हारा भी मेरे साथ मिलन होने पर कल्याण होगा।

११.

'खि फ्याउ सिक' माउ साङ् मिङ् कुन् तिपा नाम्.....ऐ।
स्येङ्.....ऐ.....।
पि खाउ खायि पिन् नुक् साङ् माइ वाङ् पाक'.....ऐ।
ति नाइ प्येड चायि सिव् याउ.....ऐ.....।
खि फ्याउ सिक' माउ खायि साङ् तिपा मिङ् कुन् नाम्......ऐ।
खाम्......ऐ.....।
पि खाउ खायि पिन् का वाउ चाप्, हुङ्।
खाम् नाइ ति नाइ प्येव् चायि साङ् याउ .....ऐ।

हे मेरी प्राणेश्वरी! चिन्ता के मारे मैं इस मनुष्य समाज में जीवित रहना नहीं चाहता हूं। मैं वन में पक्षी होकर अकेला विचरण करना चाहता हूँ। अन्यथा मैं कोयल होकर तुम्हारा नाम लेना चाहता हूँ।

१२.

चाम्का, मिङ् स्येङ् खो वान् अङ्.....ऐ,
पि मायि तिपिन् ताङ् सुन् हिव् फा लिङ् स्वङ् सि।
खाम् सिन् ध्वम् नाम्..... ऐ।
खो वा अङ् चाम्का.....ऐ।
पि मायि ति नुङ् ताङ् लिङ्।
स्वङ् खुन् फ्रा नाइ ति ख्यत् मायि हइ नाम्.....ऐ।

हे चाम्का! यदि मैं तुम्हें न पा सका तो, भिक्षु बनकर, शील पालन कर विहार में रहूंगा! हे चाम्का। मैं तथागत द्वारा दिया हुआ चीवर पहन कर तुम्हें धर्मदर्शना करूंगा। जिससे तुम्हें भी निर्वाण मिल सके।

१३.

वा ख्वंङ् ताङ् ताले.....ऐ।
खाम् तु चाउ साङ् फा माने।
खाउ मान्कु काम् याउ.....।
ताङ् ताले व ख्वङ् याउ ऐ।
खाम् तु साङ् माने ऊनायि क्यङ् नाइ।
मान् दुखो याउ..... ऐ।

हाथी फंसाने का फन्दा (हाथी गढ़) का दीवार जैसा गोलाकार, मजबूत एवं अडिग होता है, वैसे ही मेरा (श्रामणेर) का वचन भी सत्य है। जैसे हाथी गढ़, दीवार के कारण मजबूत है, वैसे ही मेरी वाणी भी ध्रुव सत्य है।

१४.

खाम् स्येङ्हा पिङ् ये वे ना ना, ना ना.....ऐ। खाम्.....ऐ।
पेंक् वा हा चाउफा माफाक.....ऐ।
स्येङ् पाइ चु ना।
खाम् स्येङ् हय पेङ् ये वाइ ना ना ना ना खाम् .....ऐ।
पेक् वा खान् स्येङ् प्वय लुङ् माक......ऐ।
स्येङ् पाइ चु ना..... ।

हे प्रिये! हमारे दोनों के बीच के प्रेम को ऐसा अटूट रखो कि यदि महादेश के पांच राजकुमार आये तो भी उसे डिगा न सकें। हमारे बीच जो प्रेमालाप हुआ है, उसे मत भूलो यदि देवराज इन्द्र का वज्रपात हो तो भी तुम अपने वचन में अडिग रहो।

१५.

खिङ् मायि नाङ् चाम् माउलु लाङ् पुन् फा..... ऐ।
तु नाङ् नाङ् ता पा कुङ् स्वङ् ऐ।
चाङ् किनं कुन् याउ.....ऐ।
खिङ् मायि नाङ् चाम् माउ तु नाङ् पु न्वङ् मुङ् याउ.....ऐ।
तु नाङ् डिक् यु नायि तिुङ।
नाइ चाङ् किन् चाउ याउ.....ऐ।

हे मेरी प्रिया! तुम आकाश में उड़ने वाले गिद्ध जैसी हो, तुम मनुष्य (युवक) को (वश में कर) सकती हो, तुम पानी में रहने वाले मगरमच्छ की भांति हो, तुम मुझे ग्रास कर सकती हो और अपना बना सकती हो।

१६.

खि प्याउ सिक माइ नायि चायि नाक् न्वङ् नाम्..... ऐ।
खि ति मो युनाम् काङ् न्वङ् क.....ऐ।
साक् म्येङ् साम् नाम्.....ऐ।
खि प्याउ सिक माइ नाक् स्वङ् नायि चायि.....ऐ।
खि नि मो हम् क्या ङ पाक.....ऐ।
साक् म्येङ् साम् तुम् स्वन् याउ .....ऐ।

हे प्रिये! चिन्ता के कारण मेरा शरीर भार से दबा जा रहा है, मैं जिस कमल पुष्प को लेना चाहता था, वह भी 'मेङ्' नामक पतिंगे ने नष्ट कर दिया है। तुम्हें पाने में भी बहुत सी समस्याएं हैं।

१७.

वुङ् काङ् हापि न्वङ् पिन् मा काइ खुव् खाम् सा हाक् .....ऐ।
पि मायि थ्वतफा हाम् हाउ खुव् सान् ताङ् याउ.....ऐ।
वुङ् काङ् स्वङ् हा पिन्वङ् पिन्मा काइ खुव् त्वङ् याउ.....ऐ।
खाम् ऐ, पि मायि या फवङ् त्वङ् आउ फे क्वत् .....ऐ।

हे प्रिये! हमारे बीच शत्रुओं ने पुल (बांधा) निर्माण किया है। उसे मैं विफल करूंगा और उस शत्रु निर्मित पुल को तोड़ कर मेरा पथ निष्कण्टक बनाऊंगा।

१८.

खेव् फे नुक् पात् वाङ् सा खाम....ऐ, स्येङ् .....ऐ।
पि मायि खाउ पिन् साङ् सी माउ थाङ् मा याउ .....ऐ।
नुक् पात् पाङ् खेव् फे साहाक्..... ऐ, स्येङ् .....ऐ।
पि मायि नुङ् ताङ् ले तुव् साङ् कान् खाम् नाइ माउ थाङ् हत मायि हय यउ ऐ।

हे सुन्दरी! 'पात् पाङ्' पक्षी अपने रमणीय अरण्य को छोड़कर कहीं नहीं जाता है, वैसे ही मैं भी श्रामणेर होने से तुम तक पहुँचने में असमर्थ हूँ और मेरे पीत वस्त्र (चीवर) धारण करने से तुम तक पहुँचने में असुविधा है।

१९.

खुन् उ परायि क्यङ् ये खायि पिन् साङ् नाम्.....ऐ, हाक्.....ऐ।
पिमायि खयि ख्नि् चान् कुङ् काङ्.....ऐ।
खा क्वङ् क्यव् नाम्... ऐ (वा.....)।
खुन् उ क्यङ् चाम् खायि पिन् चाउ तो ने थ्वुताङ् सा नाम् ऐ.....स्येङ् .....ऐ।
पि मायि तुङ् खिुन् चान् कुङ् काङ् .....ऐ!
खा मिुङ् खाम्...ऐ।

हे प्रिया! श्रामणेर दीक्षा के लिए मैं बिहार में अभ्यास कर रहा हूँ। तुम्हारा प्रेमी, श्रामणेर हो गया हूँ, मैंने धुतांग धारण किया है, मैं निर्वाण की खोज में हूँ।

२०.

म्येङ् नेङ् मिुङ् मिुङ् स्येङ्क पिन्मा लिन् खइ काइ सा पि.....ऐ।
पि..... ऐ, हान् काउ साउ पिम्फा पो पाइ नाई.....ऐ।
पिुन् नु य्वम् नाम् पि.....ऐ (वा.....)।

म्येङ नेङ् मिङ् स्येङ्क.....ऐ।
पिन मा लिन् खाइ एवन् पि .....ऐ।
हान् काउ खाउ फान् माउ याङ्में पिन् नु चान् नाम्.....ऐ (वा.....ऐ)।

हे मेरे प्राणनाथ! 'म्येङ् नेङ्' के मुर्गी के अण्डे में आकर विनोद करने की भांति आकर मेरे साथ प्रेम तो किया, किन्तु आशाजनक फल नहीं पा सकी। मैं अनाथ युवती, जवानी में तड़प रही हूँ, मुझे लोग पसन्द नहीं करते हैं। मेरे पिताजी भी मेरी उपेक्षा करते हैं।

२१.
स्येङ् पिन् कुन् ये माउतु नाङ् पुन् फा..... ऐ पि......ऐ।
तु नाङ् काइ तिम्फा फान् में वाङ् हुङ् (वा.....)।
हय पिन् कुन् क.....ऐ माउ तु नाङ् पुन् मिङ् नाम्.....ऐ।
तु नाङ् काइ अन् यु नायि हुङ् नाइ.....ऐ।
ताइ अुिप् खाऊ याउ..... (वा.....ऐ)।

हे मेरे प्रिये! मैंने जन्म तो लिया, किन्तु अन्य लोगों की तरह नहीं हुई। मैं तो अनाथ मुर्गी का चिगना जैसी आश्रयहीन हूँ। मेरा भाग्य दूसरे लोगों का जैसा नहीं हुआ, मैं अनाथ, निराहार चिगने की तरह हूँ; मैं सभी ओर से तिरस्कृता हूँ।

२२.
स्वङ् हा प्येङ् ये युङ् मान् फु पेत् खाम् हाङ्सा नां पि.....ऐ।
पि काउ खिुन् ताङ् चिक् य्वत् फा आका क'.....।
पाइ लुम् नाङ् ता.....ऐ (वा.....)।
स्वङ् हा हयक'.....ऐ, यिुङ् मान् फु हाङ् सा पेतू खाम्
खाम् स्येङ् मे मायि खिुन् ताङ् आका चिक् लुम् हाम् क.....।
अिुव् लुम् चाउ नाम् पि.....ऐ (वा.....ऐ)।

हे मेरे प्रिये! हमारा प्रेम स्वर्ण हंस के जैसा है। आपके आकाश में चले जाने पर भी मत भूलें। हम दोनों के बीच का प्रेम उस स्वर्ण हंस के जैसा अटूट होना चाहिए। हे मेरे स्वर्ण! आपके आकाश में चले जाने पर भी मैं आप को भूल नहीं सकती हूँ। हे मेरे प्राण के देवता!

२३.
सि सि लुम् हम् फात् तो च्वय..... ऐ।
पि.....ऐ, आइ हम् काउ नो च्वय हय साउ क.....ऐ।

अिुव् पाइ फात् तो चाइ..... (वा)।

सि सि लुम् हम् फात् तो नाङ् आइ हम्।

काउ स्येङ् सायि माइ साइ खो नाइ......ऐ।

अिुव् पाइ फात् तो चाउ पि.....ऐ (वा.....ऐ)।

हे मेरे प्राण देवता! हवा 'सि=सि' कर आपकी जवानी की खुशबू मुझे प्रभावित कर रही है और मेरा प्रभाव आप तक नहीं पहुंच रहा है क्या? मैं आपको सदा याद करती रहती हूँ, किन्तु आप मुझे याद नहीं करते होंगे।

अकाल : दो निमाड़ी गीत

लोक गीत, आनन्द और उल्लास ही नहीं, वेदना और आंसू भी लिए होते हैं। ये जनता की सामूहिक स्थिति के परिचायक रहे हैं। देखिये, अकाल के दिनों निर्मित एक निमाड़ी गीत में, किसान के मन की व्यथा कितनी सजीव होकर उतरी है।

गीत के बोल हैं—

साल आयो नाटो, मैय्या भल्ली बखत् काटो।
नहीं देवाण्यो ब्याज, ऊतो कथई नी बढ़्यो ढाटो,
भैया भल्ली बखत् काटो।
मजूर लोग तो यों कहे भैया, बठी गयो सब धन्दो।
आयो सबईन पर फन्दो।
पड़्यो कुमार को धाम, भैया, बेड़ी उड़ी गई पाटी।
वहां तो रह गई ताती माटी,
भैया जमीन हुई गई गाटी,
ऊ तो जगऽ जगऽ सी फाटी,
भैया भल्ली बखत् काटो।
अबरेक पड़्यो नी पाणी,
भैया कोई नी बुलावऽ लाणी,
फिरी आयो धाणी-माणी,
पेणु पड़से तातो पाड़ी,
साल आयो नाटो, भैया भल्ली बखत् काटो

साल खराब आया है, भाई किसी तरह समय काटो। बहुत कोशिश की लेकिन साहूकार का ब्याज तक नहीं चुका सका, काम धन्धे भी सब बैठ गये, सब पर मुसीबत आई है।

आश्विन की धूप पड़ी और खेत सूखकर कंकाल उड़ गये।

अब तो वहां सिर्फ गरम मिट्टी रह गई है भाई, जमीन भी अब तो निष्ठुर हो चुकी, उसमें जगह जगह से दरारें पड़ गईं, उसका मन फट गया है इस साल पानी नहीं गिरने से किसी ने लानी पर भी नहीं बुलाया मैं। चारों ओर घूम आया, अब तो गरम पानी पीना पड़ेगा।

साल खराब आया है भाई, किसी तरह अपना समय काटो।

इस गीत में अकाल से खेती के बर्बाद हो जाने के फलस्वरूप खेती पर ही आधारित किसान की गरीबी, लाचारी का भी दर्द सुनिये।

गीत के बोल हैं—

काई कहूं रे, आज की बात, म्हारी तो मुट्ठी खुली गई रे।
चार साल की बणेल बात, माटी मंऽ मिली गई रे।
दुई बैल्या को किसांण, औका सी धाड़क्या नी चुकी रह्या जी,
चांदी चकती गिरवी घरी नऽ, ठिकरा बिकी रह्या जी।
लुगई कहे कि म्हारा फाटि गया लुगड़ा,
पोर्‌या-पारई भी फिरी रह्या उघड़ा,
मत मखऽलगाओ झाल, हउं तो हरवई न बठी गयो जी,
इना साल का महीं तो म्हारो खेत, पाटी उड़ी गयो जी।

मैं आज की बात आप से क्या बताऊं,
मेरी तो मुट्ठी खुल गई।
दो बैल के किसान से,
खेती से मजदूर भी नहीं चुक रहे हैं।
चांदी वगैरह सब गिरवी रखने पर भी,
उसके आज बर्तन बिक रहे हैं।
स्त्री कहती है कि उसकी साड़ी फट गई,
और बच्चे हैं कि उघड़े बदन घूम रहे हैं।
मुझे मत गुस्सा दिलाओ,
मैं तो हार कर बैठ गया हूं,
इस साल तो मेरा खेत सूख कर कंकाल हो गया है।

बैहुला गाय : एक निमाड़ी लोकगीत

सत्य-अहिंसा का परिपालन भारतीय जन-जीवन का एक विशिष्ट अंग है! 'बैहुला गाय' नामक एक प्रसिद्ध लोक गीत, जिसमें एक सुन्दर कथा भी सन्निहित है, निमाड़ी लोक साहित्य की अपूर्व देन कही जा सकती है। इसी लोकगीत की यह विशेषता भी है कि यह विभिन्न जनपदों में एक जैसी ही शैली में प्रचलित रहा है।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हिंसक सिंह पर अहिंसक गाय की विजय का अत्यन्त कारुण्य एवं मार्मिकतापूर्ण चित्रण हुआ है! इस चित्रण की प्रतिभा से अभिभूत होकर डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा था :—

> धर्म और अधर्म के द्वन्द्व और समन्वय का इतना संक्षिप्त और हृदयवादी कथन जैसा इस लोकगीत में है, अन्यत्र कम ही प्राप्त होता है! इस लोकगीत को सचमुच ही भारतीय संस्कृति का राष्ट्रीय लोकगीत कहना चाहिए।

आइए, आप भी इसी लोकगीतात्मक कथा को सुनिए और इसमें निहित सत्य को अपने अन्तर्मन में धारण करने का प्रयत्न करने का उपक्रम कीजिए। निमाड़ी लोकगीतों के मूल स्वरों में ही इसे सुनिए :—

> बिन्द्रा जो बल की, चरती जो गाय
> सारो बिन्द्रवन चरी आई जो!
> पहिलो हम्मर गउमा कांकड़ मंड दियो,
> दूसरो हम्मर गउआ घोहना का मांही।
> तीसरो हम्मर गौआ पनघट पर दियो,
> चौथो हम्मर गौआ सेरी का मांही।
> पांचवों हम्मर दियो आंगण का मांही॥

> [एक गाय वृन्दावन में चरने वाली, यह आज सारा वृन्दावन चर कर आई है। तभी उसे दिन भर से बिछुड़े बछड़े की याद आ जाती है, और पहली हुंकार उसने गाँव की सरहद (सीमा) पर लगाई, दूसरी गोहे (ढोरों के बैठने की जगह) पर, तीसरी पनघट पर, चौथी गाँव की एक गली में लगाई और पाँचवीं हुंकार भरती हुई वह घर के आँगन में अपने बछड़े के पास आ पहुँची।]

और अत्यंत ही व्यग्रतापूर्वक बोल पड़ी :—

> पेवो-पेवो रे बछुआ सवा घड़ो दूध,
> आज का दूध बछुआ दोयलो जी।

रोज चरता था बछुआ मधुवन मंड!
जंगल मंडरे बछुआ न्हार को डर,
न्हार ख ऽ भेंट / न ऽ आईज घर।
आज को दूध बदुआ दोयलो जी ॥

(हे बछड़े! पियो, आज तुम मेरा सवा घड़ा दूध पी लो! आज का दूध बहुत ही दुर्लभ है। हे बछड़े, रोज मैं मधुवन में चरती थी, पर आज जंगल में चली गई थी। हे बछुए, जंगल में शेर का डर है और आज तो मैं शेर से ही मिलकर आ रही हूँ।)

बात यह है कि जंगल में बैहुला नामक गाय एक शेर के पंजे में पड़ जाती है और अपनी मृत्यु निकट जानकर गाय एक शर्त पर शेर से घर आने का अनुनय करके विनयावनत अनुमति चाहती है। वह कहती है :—

मेरा नन्हा-सा बछुआ घर पर है वह मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा। वह दिन भर का भूखा होगा। मैं घर पर जाकर उसे समझा कर आऊँ और आज का दूध पिला आऊँ, फिर तुम खुशी-खुशी मेरा मांस भक्षण कर लेना।

शेर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लेता है। इधर गाय बछड़े को दूध पिलाकर अपनी पड़ोसिन से कहती है :—

पड़ोसन बाई तू म्हारी माय
म्हारा बछुआ खऽजतन सी राख,
ऊँढाला मंऽ ओ वैण, छांवला मंऽ बांधजे,
हरयालई दूब खवाइजे ॥

(हे पड़ोसिन बहन! तू मेरी माता के समान है। मेरे बच्चे को सम्हाल कर रखना। देखो गरमी में उसे छाँह में बाँध देना, ठण्डा-सा पानी पिला दिया करना और सुनो, इसे बरसात में ओसारे में बाँध देना और भरपेट हरियाली दूब खिला दिया करना।)

उधर बच्चा भी यह बात सुनता है, तो वह तुरन्त ही सारी बात समझ जाता है। माँ के बिना वह कैसे जीवित रह सकता है? अतएव मृत्यु का आलिंगन करने के लिए वह भी साथ चल दिया। वह कितना विचित्र क्षण था, जब हिंसक सिंह के मुख में जाने के लिए अहिंसा की सजीव मूर्ति 'गाय और बछड़ा' एक साथ अपने शेर के पास जा रहे हैं।

इसी बीच चलते-चलते बछड़े को एक युक्ति सूझती है। वह **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की तरह जितने भी जंगल के जीव हैं, वे सब परस्पर भाई-बहिन होते हैं, यह मानकर जंगल के उस सिंह को 'मामाजी' कह कर पुकार उठता है। मानो वह सिंह की सम्पूर्ण हिंसा की एक क्षण में ही थाह ले लेना चाहता है। अतएव वह

सिंह को मामाजी के नाम से सम्बोधित कर के कह उठता है :—

भरवो भरवो मामाजी ऽ पहिले ऽ म्हारो
मांस फेर भरवो म्हारी माँय को माँस॥

(हे मामाजी! खाओ खाओ। पहले मेरा माँस खाओ! फिर मेरी
माता का माँस भक्षण करना।)

ये शब्द बछड़े के मुँह से सुनते ही सिंह सिहर उठता है। बछड़े के प्रति उसकी जिज्ञासा बढ़ जाती है और वह चट से पूछ ही बैठता है :—

कुणनऽ दियो रे बछुआ सीख न ऽ बोध,
कहाँ का पण्डित नऽपढ़ावियो।

(हे बछड़े! तुझे किसने यह ज्ञान दिया है? बोध दिया है और
किसने यह पाठ पढ़ाया है।)

तो बछड़ा कह उठता है :—

राम नऽदी मखऽ सीख नऽ बोध,
राम जऽ पण्डित पढ़ावियो।

(राम ने तो मुझे यह ज्ञान और बोध दिया है और राम पण्डित
ने ही यह पाठ भी पढ़ाया है।)

सिंह पर इस बात का काफी सात्विक प्रभाव पड़ा और वह अपनी हिंसक प्रवृत्ति भूलकर चट से कह उठा :—

जाओ, जाओ, बईण, भाणिज आपणाज घर,
आज तुमनऽ मखऽ जीती लियोजी।

(जाओ, जाओ हे बहिन और हे भानजे। तुम अपने घर जाओ,
आज तुमने मुझको जीत लिया है।)

यह भी असत्य पर सत्य की, हिंसा पर अहिंसा की, क्रूरता पर सौमनस्य की विजय है। कितना अच्छा हो हम इस लोकगीतों भरी लोककथा में निहित 'सत्यं शिवं सुंदरं' तत्त्व को अपने अन्तर्मन में धारण करके अपने पूर्वजों के 'जीओ और जीने दो' के सात्विक सन्देश की रक्षा करके आज की सबसे बड़ी आवश्यकता 'विश्वशांति' की संभावनाएँ पुष्ट करें।

[सुधाबिन्दु : जुलाई '७२]

मालवा से कुछ शब्द

कुलावण

उतरते ज्येष्ठ एवं लगते आषाढ़ माह में मालवा में कुछ अलग किस्म की हवाएं चलती हैं। ये पुरवाई या पछुआ से भिन्न होती है। मंद-मंद बहने के बजाय ये जोर शोर से बहती हैं। मगर बरसाती 'बहरे-डूंडे वायरे' यानी बरसाती बहरी-नीम पगली हवा की तरह भी नहीं होती हैं। ये हवाएं वर्ष भर चलने वाली सभी प्रकार की हवाओं से भिन्न होती हैं। ये जब चलती है, तो कुछ दिनों तक सतत् चलती रहती हैं। ये हर पेड़ की पत्तियों को खिलखिलाने पर विवश कर देती हैं। हवा के प्रवाह का शोर अन्धड़ की तरह होता है। रात के सन्नाटे में यह शोर किसी टक की खड़-खड़, भड़-भड़ जैसा लगता है।

इस अनोखे वायरे यानी हवा को मालवे के किसानों ने नाम दिया— ''कुलावण''। यह कुलावण शब्द मुझे मूल ''आवण'' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। क्योंकि इस कुलावण को मालवे का किसान इन्दर राजा यानी बरखा ऋतु के आगमन की पूर्व सूचना मानता है। अनुभव के आधार पर उसका यह विश्वास बना है कि तीसरी कुलावण के चलते ही बरखा प्रारंभ हो जाती है। इसीलिए इस कुलावण को वह राजा की सवारी के आने के पहले उनके आगमन की सूचना देने वाले हरकारे जैसा मानता है। संभवतः इसीलिए इस हवा को उसने नाम दिया 'कुलावण' यानी कूल से आने वाली। कूल से तात्पर्य है सागर का मूल या तट। इसी आधार पर मैंने इस कुलावण को कूल आवण यानी सागर कूल से आने वाली माना।

पृथ्वी-पुत्रों को ही प्रकृति के ऐसे सूत्र हाथ लगते हैं। वे जीवन की पाठशाला में प्रकृति के सान्निध्य के कारण यह जान पाते हैं किये हवाएं सागर कूल से आई हैं। इन हवाओं में कोई शीतलता नहीं होती है, केवल गर्जन-तर्जन ही होता है। फिर भी पृथ्वी-पुत्रों ने जान लिया कि ये सागर कूल से आने वाली कुलावण हैं। वर्ष-दर-वर्ष इन लोगों ने इन हवाओं का यह तारतम्य देखा होगा, तभी यह अनुमान लगाया गया होगा? तभी निश्चयात्मक स्वर में लोक ने कहा— तीसरी कुलावण चली कि बरखा आई।

राजा-महाराजाओं की सवारी के आगमन के पूर्व सामन्ती युग में हरकारे दौड़े आते थे। वे सवारी के आगमन की पूर्व सूचना देकर सभी को सचेत करते थे। ये कुलावण भी उन हरकारों की तरह ही राजा इन्दर के आगमन की पूर्व सूचना देने सागर तक से दौड़ी-दौड़ी मालवा के पठार तक आ जाती है। आधुनिक ऋतु-विज्ञानी इस अनुमान की पुष्टि करें या न करें, हमारा किसान तो इन कुलावणों के चलने पर प्रसन्न होता है। उसे विश्वास हो जाता है कि राजा इन्दर की सवारी

चल पड़ी।

दूसरे प्रदेश के हिन्दी के एक बड़े लेखक महोदय को जून के प्रारंभ में यहाँ मालवे में रहने का काम पड़ा था। तब वे इस कुलावण से बड़े परेशान हुए थे। उनके कागज टेबल पर से उड़-उड़ थे। उन्होंने झल्लाहट में कहा था कि यहां कि हवा अनोखी है।

कुलावण सच में अनोखी हवा है। गति, प्रवाह, शोर आदि में सामान्य से अलग। इसीलिए तो मालवे के पृथ्वी पुत्रों ने इसे अलग नाम दिया - कुलावण।

यह कुलावण एक शुभ संदेश व नया विश्वास है। नई आशा है। कुलावण समय पर चलती रहे, और तीसरी कुलावण बरखा लेकर आए, यही कामना है।

जामण

''जामण'' शब्द को आमतौर पर दही को जमाने के काम में आने वाले दही के अर्थ में ही जाना जाता है। दूध को दही के रूप में परिवर्तित करने के लिए दही का बीज-सा दूध में छोड़ा जाता है, उसे ही लोक-शब्दावली में जामण कहते हैं।

किन्तु लोक में ही इस शब्द का एक और अर्थ भी प्रचलित है। इस विशिष्ट अर्थ में जामण से आशय मां होता है। जी हाँ माँ याने जननी। जननी को जामण भी कहते हैं। इसीलिए भाई को बहन ''जामण जाई'' कहता है। कई लोकगीतों में ये शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

इस विशिष्ट अर्थ ने ही मुझे कुछ कहने को प्रेरित किया। लोक की यह भंगिमा मुझे अच्छी लगी। क्या बढ़िया उपमा दी माँ को माँ की जामण जैसी ठहरा दी।

वैसे देखा जाए तो इस कथन में कुछ भी अनुचित नहीं है। बड़ा सार्थक एवं सटीक कथन है यह। माँ सच में जामण जैसी ही तो होती है। उसी के प्रताप से संतान होती है। दही के जामण की तरह वह इस प्रजाति को गति देती है। दही की तरह वह गर्भ धारण करती है। जामण की तरह उसकी भूमिका ही निर्णायक होती है। जामण के बिना दूध का स्वरूप दही में परिवर्तित नहीं हो सकता है। इसी तरह माँ के बिना संतान असंभव है। जनक की स्थिति बिना जामण वाले दूध जैसी होती है। वह अकेला संतानोत्पत्ति में असमर्थ है। जामण का संगम होने पर ही दूध के रूप परिवर्तन का क्रम चलता है। पुरुष के शुक्र एवं स्त्री के डिम्ब वाली संतोनोत्पत्ति की जैविक प्रक्रिया इस अलंकारिक अर्थ में अप्रासंगिक है। क्योंकि यहाँ तो सन्दर्भ अलंकारिक एवं काव्यात्मक है। लोक ने लोक-जीवन की एक दैनंदिन प्रक्रिया को इतने व्यापक सन्दर्भ से जोड़ दिया। माँ को जामण एवं उसकी संतान को जामण जाई एवं जामण जायो कहकर खासी कविता-सी कर दी।

रूँगावण

नई पीढ़ी तो ''रूँगावण'' शब्द को शायद जानती ही नहीं है? क्योंकि रूँगावण

का अब चलन ही नहीं रहा। जिस प्रथा का प्रचलन बंद हो जाता है, उसे लोग भूल जाते हैं। रूँगावण को भी लोग भूल गए।

किन्तु पुरानी पीढ़ी के लोग तो अभी भी रूँगावण को जानते हैं। उन्हें पता है कि बीते युग में सब्जी खरीदने पर, सब्जी बेचने वाला या सब्जी बेचने वाली मुफ्त हरा धनिया, हरी मिर्च आदि देती थी। मुफ्त में मिलने वाली इस सौगात को ही तब रूँगावण कहा जाता था।

इस रूँगावण जैसा उदार व्यवहार जीवन के अन्य कूचों में भी उन दिनों होता था। हर मनिहारिन चूड़ी पहचाने के बाद सुहागिनों को सुहाग की चूड़ियाँ मुफ्त देती थीं। यदि वह भूल जाती थी, तो सुहागिनें उसे स्मरण करा कर सुहाग की चूड़ियाँ उससे लेती थीं। इन चूड़ियों का उनके लिए महत्व था। इसी तरह दूध नापने वाला वांछित दूध नापने के बाद, धार डालता था। तेली भी तेल की धार छोड़ता था। सुहागिनों को जो वस्त्र लोकाचार में दिए जाते थे, उनके साथ बच्चों के लिए कपड़े के छोटे टुकड़े रखे जाते थे। भोजन का निमंत्रण देने वाले बच्चों को अलग से निमंत्रित नहीं करते थे। क्योंकि बड़ों के साथ बच्चे पत्तल के साथ "दोने" की तरह जुड़े-से माने जाते थे। जो लोग बच्चों को अपने साथ यदि नहीं लाते थे, तो भोजन कराने वाले उनसे इस बारे में कैफियत तलब करते थे। इसी तरह की उदार मनोवृत्ति का प्रचलन था उन दिनों में।

महंगाई की मार ने समाज की इस उदार मनोवृत्ति पर अंकुश लगा दिया। सब्जी-फरोश रूँगावण देना भूल गए। हरा धनिया एवं हरी मिर्च के भाव बढ़े, तो सब्जी-फरोश ने हाथ खींच लिया। चूड़ियाँ महंगी हुई तो मनिहारिन ने भी सुहाग की चूड़ियाँ अलग से देना बंद कर दिया। "सुहागिनें" भी इस बदले दौर में सुहाग की चूड़ियों के लिए झगड़ना भूल गई। जमाने का ढर्रा ही बदल गया। इसीलिए रूँगावण शब्द को लोग भूल गए।

लाड़ो उगले

वर-निकासी को हमारे मालवे में अनोखा नाम दिया गया— "लाड़ो उगले"। लाड़ो याने वर एवं उगले तो निकलने का विलोम है ही।

इस अनोखे नामकरण ने मेरे मन में यह प्रश्न जगाया है कि लाड़ा इस समय आखिर क्या उगलता है? इसके उत्तर में मेरे भीतर से यही उत्तर आता रहा है कि जो निगला गया हो, वहीं उगला जा सकता है। यह कैफियत नए प्रश्न को जन्म देती है— ऐसा क्या निगला गया, जिसे उगलने की इस समय आवश्यकता आन पड़ी। इसके उत्तर में मुझे यही सूझा है कि माँ का दूध ही ऐसी वस्तु है, जिसे उगलने की प्रासंगिकता इस समय प्रतीत होती है।

ऐसी प्रासंगिकता क्यों प्रतीत होती है, इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वधू को प्राप्त करना सुदूर अतीत में आज की तरह सरल कार्य नहीं था। उस युग विशेष में एक कबीले वाले दूसरे कबीलों पर हमला कर वधू प्राप्त करते थे। तब

माँ का दूध शौर्य का परिचायक माना जाता था। माँ के दूध की लाज रखने वाले वीर नारी रत्न को प्राप्त कर पाते थे। विवाह के अवसर पर तोरण मारने की प्रथा उसी युग की शेष रही गूंज है। ''लाड़ो उगले'' वाले कथन में भी माँ के दूध का स्मरण है। वधू प्राप्त करने के लिए अब वैसे शौर्य की आवश्यकता रही नहीं, फिर भी प्राचीन परम्पराओं की लीक पीटी जा रही है। व्यर्थ की परम्पराओं से मुक्ति बड़ी कठिनाई से मिलती है। सजग प्रयासों से ही यह कठिन कार्य हो पाता है।

''लाड़ो उगले'' वाले इस कथन के सन्दर्भ में माँ के दूध वाला मेरा अनुमान यदि सही है, तो यह कहा जा सकता है कि इस कथन की जड़ें बड़ी प्राचीन है।

''हो'' गई

पालतू मादा पशु जब गाभिन हो जाती है, तो कहा जाता है कि वह ''हो'' गई। गाभिन हो गई न कहते हुए, सिर्फ इतना ही कहा जाता है कि वह हो गई। इस कथन में मुख-सुख एवं वाक्विदग्धता दोनों का परिचय मिलता है। संक्षिप्तिकरण में मुख-सुख की प्रवृत्ति स्पष्ट है। दूसरी ओर केवल हो गई कहने में वाक्चातुर्य लक्षित होता है।

पशु-पालकों ने ऐसे ही वाक्चातुर्य का परिचय ''डोर'' शब्द में दिया है। सांड, पाड़ा, बकरा आदि की जननेन्द्रिय को आकार में डोरी की तरह लम्बी होने के कारण ही संभवत: उन्होंने डोर नाम दिया है? इसी तरह नर पशु की रतिक्रिया को उन्होंने ''कूदना'' कहा। रति क्रिया में सांड, पाड़ा, बकरा आदि मादा पर कूद कर चढ़ते हैं।

इसी सन्दर्भ में ''पानी पर'' आना कथन भी उल्लेखनीय है। मादा पशु जब गरमाती है या ऋतु पर आती है, तो उस स्थिति को मालवे में ''पानी पर आँना'' कहा जाता है। यह कथन भी वाक्चातुर्य का उदाहरण है। लोक की यही विशेषता है। यहाँ सहज कथन में भी वाक्चातुर्य भरा होता है। मादा पशु के गर्माने पर उसकी योनि से पानी जैसा तरल पदार्थ झरने लगता है। अतएव ''पानी पर आना'' कथन तथ्य-परक कथन होते हुए भी इसमें वाक्चातुर्य है। क्योंकि इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता था कि मादा गरमा गई। किन्तु ऐसा न कहते हुए बड़े सलीके से कहा गया— ''पाणी पर अई गई'' यानी पानी पर आ गई। गर्भधारण के बाद तरल पानी के बजाय कुछ गाढ़ा पदार्थ मादा की योनि से झरता है। अतएव इन दोनों स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए पहली स्थिति को कहा गया— पानी पर आ गई।

ग्रामीणों का सलीका दिशा-मैदान जाने वाले कथन में भी प्रगट हुआ है। फूहड़ ढंग से शौच के लिए जाने का न कहते हुए कहा गया— दिशा-मैदान जाने को कहा गया। मेरे गाँव में तो इसी बात को ''खाळे जाना'' यानी नाले की ओर जाना कहा जाता है। नाले की ओर जाने में लाक्षणिक व्यंजना है।

पशु-पालकों को अपने पालतू पशुओं की रति क्रीड़ओं को गौर से देखना पड़ता

है, क्योंकि इस रति क्रीड़ा के फलस्वरूप होने वाले परिणाम पर उनका भविष्य निर्भर करता है। मादा यदि गर्भवती हो जाती है, तो वे निश्चिंत हो जाते हैं। किन्तु मादा यदि खाली रह जाती है, तो वे चिन्तित होते हैं। इसीलिए भैंस पर भैंस (पाड़े) को कूदते देखते समय वे उसकी डोर गिनते हैं। अधिक होने पर मादा के "होने" की संभावना रहती है।

डोर गिनने वाली यह स्थिति मुझे यौन शिक्षा के सन्दर्भ में विचारणीय लगती है। इस स्थिति के होते हुए मुझे ग्रामीणों के लिए यौन शिक्षा निरर्थक एवं अनावश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि यहाँ के खुले जीवन में स्त्री, पुरुष, बच्चे आदि सभी कोई सब के सामने भैंस पर कूदते भैंसे की डोर गिनते हैं। इन लोगों को यौन शिक्षा देना, उल्टे बाँस बरेली ले जाने जैसा ही कृत्य कहा जाएगा।

बात "हो" गई से चली थी और पहुँच गई यौन शिक्षा पर। वाक्-विदग्धता में नाव कहाँ से कहाँ पहुँच ही जाती है।

सासुजी अरथ भंडार

"म्हारा ससराजी गाम गरासिया, सासुजी अरथ भंडार।"

मालवा में बधावा गीतों में उपरोक्त पंक्तियाँ प्राय: सुनने को मिलती हैं। इनमें से प्रथम पंक्ति का अर्थ तो मेरी समझ में आता रहा है; किन्तु दूसरी पंक्ति को लेकर मैं उलझता रहा हूँ। क्योंकि ससुरजी के ग्राम गरासिया होने वाले कथन मध्य युगीन सामंती व्यवस्था के अनुकूल है। उस समय जमींदार, जागीरदार, इजारेदार के साथ "गरासिया" भी होते थे। मालवा में ये गरासिया आमतौर पर राजपूतों में से ही होते थे। विद्वानों ने इस गरासिया शब्द का उत्स संस्कृत के ग्रास शब्द से जोड़ा है। इन गरासियों को मुख के ग्रास की तरह भूमि पर कुछ अधिकार होता था। कृषकों से वे अपना हक ग्रास के रूप में पाते थे। पिंडारियों ने नर्मदा कांठे के कुछ गरासियों को मार-पीट कर इस अधिकार से वंचित कर दिया था। इनके स्थान पर पिंडारा सरदार उस भूमि पर काबिज हो गए थे। पिंडारा युद्ध में इन अपदस्थ हुए गरासियों ने अंगरेजों की सहायता की थी। पिंडारियों की पराजय के बाद इन गरासियों ने अपना बदला इन पिंडारियों से निकाला था। ऐसे और भी कई उल्लेख गरासियों के बारे में इतिहास में मिलते हैं। इसीलिए ससुरजी को ग्राम गरासिया घोषित करने वाली बात मेरी समझ में आती रही है। किन्तु सासूजी के अरथ भण्डार होने की घोषणा को लेकर मैं उलझता रहा हूँ। यह अरथ शब्द मुझे उलझाता रहा है।

इस गीत के इस पंक्ति के पाठान्तर ने मुझे और उलझाया है। क्योंकि पाठान्तर में "अरथ" के बजाय "अरक" शब्द नजर आया है। डॉ. श्याम परमार के शोध प्रबन्ध "मालवी लोक साहित्य" के पृष्ठ ११३ पर यह पंक्ति इस प्रकार बतलाई गई है— "ससुरा हमारा राज-विजयी, सासु अरक भंडार।" किन्तु इस पाठान्तर के द्वारा और उलझाये जाने के बावजूद मुझे लगा है कि अरथ एवं अरक में कोई

विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि अरथ का सीधा-सरल अर्थ होता है अर्थ। इस अर्थ को हम धन-दौलत वाले अर्थ के रूप में स्वीकार सकते हैं। इस अर्थ की संगति अरक याने अर्क के साथ बैठ सकती है, क्योंकि यह अर्थ भी तो अर्क की तरह सार ही होता है। धन-दौलत से बड़ा सार या अर्क या निचोड़ भला और क्या हो सकता है। धन=दौलत वाला अर्थ तो सब अर्थों (यहाँ अर्थ व याने मतलब) का अर्थ है ही। इस अर्थ को सारांश या मतलब वाले अर्थ में स्वीकारने पर भी अर्क या सार वाली बात की संगति बनी रहती है। इसीलिए पाठान्तर वाली स्थिति विशेष उलझन बढ़ाने जैसी मुझे नहीं लगी।

खास उलझन तो सासजी को "अरथ भंडार" निरूपित करने से प्रतीत हुई। मैं चकित हुआ कि बहू ने अपनी सास को इतनी महिमा-मंडित की, क्योंकि बहूएं तो आम तौर पर सास को क्रूर एवं अनुदार ही बताती रही हैं। इस गीत की अनोखी बहू ने अपनी सासजी को "अरथ भंडार" या "अरक भंडार" घोषित कर दी। बहुत बड़े दिल वाली निकली यह पतोहू। लगता है खुशी के अवसर के कारण ही ऐसी विशाल-हृदयता उभरी होगी? यह भी हो सकता है कि प्रसव की पीड़ा से आक्रांत बहू ने सास-ससुर एवं ससुराल के अन्य रिश्तेदारों को इस तरह महिमा-मंडित किया हो? बहरहाल कुछ भी किया हो, मगर हुआ प्रशंसनीय कार्य। हमारे यहां मालवे में सास को "हऊ" कहा जाता है। इस हऊ शब्द का सास के अलावा अच्छा अर्थ हो होता है। हऊ आम तौर पर हऊ यानी अच्छी नहीं होती है। मगर हमारे पूर्वजों ने हऊ को हऊ (अच्छी) बनाने के लिए हऊ शब्द को विद्रअर्थी बना दिया। इस गीत की वधु ने भी पूर्वजों की इस सीख को मानते हुए अपनी सास को अरथ भंडार या अरक भंडार घोषित कर दी।

इस गुत्थी को इस तरह सुलझाने के बाद भी यह प्रश्न तो अनसुलझा रह ही गया कि अरथ भंडार या अरक भंडार से आखिर आशय क्या है। सासजी क्या अर्थ (धन) का भंडार है या अर्थ (ज्ञान) का भंडार है? अर्क से भी ज्ञान वाला अर्थ लिया जा सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि ससुरजी जब गाम गरासिया है, तो सासजी अर्थ (धन) का भंडार होंगी ही। और प्रौढ़ा होने के कारण अनुभवजन्य ज्ञान का भंडार भी होंगी ही। अतएव अरथ भंडार या अरक भंडार वाली बात बड़ी सटीक एवं सार्थक है। हर बहू अपनी सास को यदि इसी तरह महिमा-मण्डित करेगी, तो घरों में सुख-शांति रहेगी।

नारी पर एकाग्र महागाथा

लछमी जगार

देश का आदिवासी बहुल बस्तर अंचल अपनी सांस्कृतिक सम्पन्नता के लिए देश ही नहीं, अपितु विदेशों में भी चर्चित है। क्षेत्र चाहे रूपंकर कला का हो या कि प्रदर्शनकारी कलाओं या फिर मौखिक परम्परा का। प्रकृति के अवदान को कभी न भुलाने वाला बस्तर का जन मूलत: प्रकृति का उपासक है। उसके सभी पर्वों पर उसकी अनन्य उपासना, श्रद्धा, भक्ति और कृतज्ञता की स्पष्ट छाप दिखलायी पड़ती है। वर्ष भर कोई न कोई त्यौहार, कोई न कोई उत्सव। बीज-बोनी का उत्सव *बीजफुटनी,* माँ धरती का त्यौहार *माटीतिहार,* वसुन्धरा के श्रृंगार का पर्व *अमुसतिहार,* नए अन्न का स्वागत *नवाखानी,* गोधन की पूजा *दियारी,* आम का स्वागत *आमा जोगानी,* वर्षा की अभ्यर्थना *भीमाजतरा,* ग्राम-देवी-देवताओं की वार्शिक पूजा-अर्जना का आयोजन *मंडई, ककसाड़ या खड़साड़* अथवा विभिन्न *पंडुम* आदि।

धनकुल तथा *लछमीजगार* भी इसी तरह के महत्त्वपूर्ण लोकोत्सव हैं। जहां धनकुल के महादेव-पारबती की कथा गायी जाती है वहीं लछमीजगार में महालखी[1] और नरायन[2] की। लछमीजगार की इस कथा को उसकी प्रकृति के अनुसार लोक महाकाव्य कहा जाना समीचीन होगा। उल्लेखनीय है कि लछमीजगार को कुछ लोग जगार, कुछ लोग लखीजगार तथा कुछ लोग लखीजग और कुछ लोग जग कह देते हैं। जगार बस्तर अंचल की लोकभाषा हल्बी का शब्द है और यह हिन्दी के जागरण या जागृति अथवा यज्ञ शब्द का ही अपभ्रंश है। मूलत: हल्बी में गाए जाने वाले इस लोक महाकाव्य की भाषा में यदा-कदा भतरी[3] एवं छत्तीसगढ़ी[4] लोक भाषाओं के भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यह उत्सव प्राय: सामूहिक रूप से आयोजित किया जाता है, जिसे गाँवजगार कहा जाता है। कई बार मनौती मानने वाले व्यक्तिगत रूप से भी इसका आयोजन करते हैं। किन्तु आयोजन में भाग सभी लेते हैं। कम से कम पाँच तथा अधिकतम ग्यारह दिनों तक चलने वाले इस उत्सव के आयोजन-स्थल प्राय: देवगुड़ी अर्थात् मन्दिर होते हैं। आयोजन-स्थल को लीप-पोतकर सुंदर ढंग से सजाया जाता है। दीवार पर भित्तिचित्र अंकित किए जाते हैं। इन चित्रों में जगार की कथा संक्षेप में अंकित

1. महालक्ष्मी
2. नारायण
3. ओड़िया भाषा तथा बस्तर की लोकभाषा हल्बी के सम्मिश्रण से प्रादुर्भूत एक लोकभाषा, जो बस्तर अंचल के सीमावर्ती क्षेत्र में बोली जाती है।
4. छत्तीसगढ़ी राज्य की प्रमुख लोकभाषा।

होती है। पाट गुरुमार्य अर्थात् पट या प्रमुख गुरु माँ और चेली गुरुमायं अर्थात् शिष्या या सहयिका गुरुमांय इस आयोजन की सिरमौर होती हैं। यही दोनों हंडी, धनुष, बाँस की पतली कमची तथा चावल फटकने का सूपा, जिन्हें क्रमशः घुमरा हांडी, धनु, छिरनी काड़ी और सूपा कहा जाता है; के संयोजन से तैयार वाद्य-यन्त्र को धनकुल कहा जाता है। धनकुल शब्द ओड़िया भाषा से आया हुआ है। धनुष का परिवर्तित स्वरूप है धन तथा कुला का परिवर्तित स्वरूप है कुल। ओड़िया में कुला का अर्थ है सूपा।

इस आयोजन में दिन में जो पूजा-अर्चना होती रहती है, दीपक अनवरत् जलता रहता है किन्तु कथा-गायन प्रायः रात में ही होता है। श्रद्धालु जन देर रात तक पलकें बिना झपकाए बैठे कथा का रस ले रहे होते हैं। जगार गीत वस्तुतः गीत नहीं, लोक महाकाव्य है। मौखिक महाकाव्य। अलिखित साहित्य। आश्चर्य होता है इन गुरुमाओं की स्मरण-शक्ति पर, जिन्हें लगभग एक-डेढ़ हजार पृष्ठों में समाने वाला यह महाकाव्य कंठस्थ है। ऑस्ट्रेलिया के नृतत्वशास्त्री डॉ. क्रिस ग्रेगोरी इसे दुनिया का सबसे महत्त्वपूर्ण लोक महाकाव्य निरुपित करते हैं। वे कहते हैं "ओरल एपिक्स ऑफ इंडिया के सम्पादक स्टुअर्ट एच. ब्लैकबर्न ने अपनी इस किताब में कहा है कि भारत में ऐसा कोई लोक महाकाव्य रिकार्ड नहीं किया गया है, जिसे केवल महिलाएं गाती हों। किन्तु अब तक महाकाव्य को हरिहर वैष्णव द्वारा रिकार्ड किए जाने एवं उसका लिप्यंतरण तथा इसका हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद किए जाने के कारण स्टुअर्ट एच. ब्लैकबर्न की उपर्युक्त स्थापना बदल जाती है।"

यह वह लोक महाकाव्य है जिसमें मृत्यु की नहीं अपितु जीवन की कहानी है। यह युद्ध और नायक प्रधान कथा नहीं है। यह नारी प्रधान लोक महाकाव्य है। नारी की, नारी द्वारा, नारी के लिए कही गयी महागाथा है यह लछमीजगार। यह सृजन की कथा है। इसमें साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास एवं भूगोल आदि का समावेश ही नहीं अपितु वृहद् एवं तथ्यात्मक विवरण है। ज्ञान का भंडार है यह लोक महाकाव्य। इस महाकाव्य में पौराणिक नायक-नायिकाओं, यथा लक्ष्मी-नारायण एवं महादेव-पार्वती का लोक संस्कृतिकरण हुआ है। लक्ष्मी-नरायन और माहादेव-पारबती[5] नामकरण इसी लोक संस्कृतिकरण के परिणाम हैं। इस महाकाव्य के नायक-नायिका ईश्वर होते हुए भी लोक के अनुरूप आचरण और व्यवहार करते दिखलाई पड़ते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य जो इस उत्सव के विषय में रेखांकित किए जाने योग्य है, वह यह कि गुरुमायं का किसी खास या तथाकथित ऊंची जाति की होना कतई आवश्यक नहीं है। यों तो प्रायः महिलाएं ही गुरुमायं होती हैं किन्तु अपवाद स्वरूप पुरुष भी यह भूमिका निभाते देखे गए हैं। बस्तर ग्राम के सुखदेव एवं जयदेव, कोंडागांव के लुदरुराम कोराम और छेदीराम तथा बरकई के मस्सूराम सोनवाली ऐसे ही अपवादों में से हैं।

लछमीजगार अन्न लक्ष्मी की पूजा का महोत्सव है। इस लोक महाकाव्य में सृष्टि

5. महोदव-पार्वती

की उत्पत्ति की कहानी है, धान की उत्पत्ति की कहानी है और इसमें वर्ष की भी कहानी है। इसमें वर्ण या रंग भेद का कोई स्थान नहीं है। इस महाकाव्य के अनुसार मेंगराजा-मेंगिनरानी[6] अर्थात् वर्षा के देवता की पुत्री हैं माहालखी। माहालखी यानी धान। माहादेव कृषक हैं। देवी पारबती को चिंता है मंजपुर यानी मृत्यु लोक के निवासियों की। वह उन्हीं के जीवन-यापन के लिए माहादेव को कृषि-कार्य हेतु प्रेरित करती हैं। माहादेव के अथक परिश्रम से होती है धान अर्थात् माहालखी की उत्पत्ति। माहालखी यानी धान नरायन राजा की बाईसवीं रानी हैं। उनकी इक्कीस रानियां हैं कोदो, कोसरा, सरसों, मूंग, अरहर, उड़द, राई, तिल, डेंगीतिल या परबत, चना, बटरा, मंडिया, अलसी, भदई, सांवा, झुडंगा, कांदुल आदि तिलहनी एवं दलहनी फसलें। ये इक्कीस रानियां सौतियाडाह के चलते माहालखी को प्रताड़ित करती हैं। बहुत अधिक प्रताड़ित किये जाने के बावजूद माहालखी अपने पति का घर नहीं छोड़ती किन्तु जब नरायनराजा द्वारा पाद-प्रहार किया जाता है तब वे इसे नारी की अस्मिता पर आघात मान कर पति का घर छोड़ देती हैं। उनके गृह त्याग के बाद नरायनराजा और उनकी इक्कीस रानियों पर दुखों के पहाड़ टूट पड़ते हैं। वे दाने-दाने को मोहताज हो जाते हैं। अन्त मे हार मान कर रानियां स्वयं ही नरायनराजा से माहालखी को खोज कर घर वापस लाने को कहती हैं। नरायनराजा माहालखी को बड़ी मुश्किलों के बाद खोज कर घर वापस लाते हैं।

लछमीजगार का आयोजन प्राय: नवाखानी के बाद आरंभ हो जाता है किन्तु अगहन के महीने को इसके लिये अधिक उपयुक्त माना जाता है। अगहन का महीना लक्ष्मी का समय माना जाता है। महत्त्वपूर्ण दिन होता है बड़ा जगार का। यानी जगार का अन्तिम दिन। और यह अन्तिम दिन होता है गुरुवार। जगार चाहें पाँच दिन का हो या सात अथवा नौ या ग्यारह दिनों का। समाप्ति तो गुरुवार को ही होगी।

जिस स्थान पर लछमीजगार रखना हो, वहां परम्परानुसार दीवार पर भित्तिचित्र अंकित किए जाते हैं। इसे गड़ लिखना कहा जाता है। चित्रांकन का कार्य लोक चित्रकारों द्वारा किया जाता है। जमीन पर चावल के आटे से बांधा या बाना लिखा जाता है। बाधा या बाना लिखना यानी जमीन पर चित्रांकन । इसे छत्तीसगढ़ी प्रभावित क्षेत्र में चौक पुरना कहते हैं। इसी बाधा या चौक के ऊपर पीढ़ा यानी लकड़ी का आसन रखा जाता है। इस पीढ़ा के ऊपर डुमर अर्थात् गुलर की लकड़ी से बनी पायली यानी धान-चावल नापने के उपयोग में लायी जाने वाली मापिका में धान भर कर रखा जाता है। इसे नये कपड़े में ढक कर उसके चारों ओर धागा और फूल लपेट दिया जाता है। यही है अन्न लक्ष्मी। पायली के समानांतर दूसरी ओर एक कलश स्थापित किया जाता है, इस कलश पर एक नारियल रखा जाता है। यह होता है देवाधिदेव भगवान नरायन का प्रतीक। फिर दोनों के सामने एक और कलश स्थापित किया जाता है। इस कलश पर दीपक

---

6. मेंघराजा-मेंघिनरानी

रखा जाता है, जो उत्सव की समाप्ति पर अनवरत् जलता रहता है। पूजा के लिए सरई अर्थात् साल के पत्तों से बनी पतरी यानी पत्तल का उपयोग किया जाता है।

अन्तिम दिन जो हमेशा गुरुवार ही होता है, बहुत ही धूमधाम से सम्पन्न होता है। बस्तर में गुरुवार को लक्ष्मीजी का दिन माना जाता है। इसी आधार पर इस दिन का नामकरण लखिमबार या लखिनबार हुआ है। लछमी, लखी या माहालखी अर्थात् महालक्ष्मी। गुरुवार के दिन गाँव के सारे लोग नए कपड़ों में सज-धज कर जगार में एकत्र होते हैं। चूड़ी-फुंदडी, तेल-कंघी, हल्दी-चावल, पान-सुपारी, साड़ी आदि पूजा एवं शृंगार की सामग्री लेकर बाजे-गाजे के साथ लोगों का समूह खेतों की ओर जाता है। इसे गोपपुर कहा जाता है। खेत यानी गोपपुर में धान की पूजा-अर्चना की जाती है और थाली में धान की बलियां लेकर जगार स्थल पर वापस आते हैं। यहां पहले से ही मांडो यानी मंडप बना होता है। इसी मांडो के नीचे लछमी-नरायन या लखी-नरायन का विवाह धूमधाम के साथ किया जाता है। विवाह की सारी रस्में पूरी की जाती हैं। हल्दी-तेल से एक-दूसरे को सराबोर कर दिया जाता है। निसान, ढोल, तुड़बुडी और मोहरी आदि वाद्ययन्त्रों की लय-ताल पर युवक-युवतियाँ, बच्चे-बूढ़े.... सभी भाव विभोर होकर नृत्य करते हैं। रात में पुन: कथा-गायन होता है और दूसरे दिन फूल-पत्ते आदि नदी या तालाब में विसर्जित कर दिये जाते हैं। विसर्जन के बाद जगार-स्थल पर आकर कपड़ों में ढकी धान की पायली को देखते हैं। धान की मात्रा बढ़ चुकी होती है। यही इनके विश्वास को और बल देता है।

लछमीजगार की कथा में प्राय: क्षेत्रीय भिन्नता है। जगदलपुर क्षेत्र में गाए जाने वाले जगार ओड़िया के लक्ष्मीपुराण से उद्‌भूत हैं, जबकि कोंडागाँव क्षेत्र में गाए जाने वाले लछमीजगार पर पुराण की कोई छाप नहीं है। कोंडागाँव की गुरुमायं सुखदई कोराम लक्ष्मीपुराण से उद्‌भूत जगार को जमखुंदा यानी यमशाखा तथा लक्ष्मीपुराण से इतर प्रचलित जगार को बेसराखंदा यानी बाजशाखा के रूप में वर्गीकृत करती हैं।

सरगीपालपारा (कोंडागांव) की गुरुमायं सुखदई कोराम, गागरी कोराम, सोमारी, रामदई और पलारी की गुरुमांय कमला कोराम, घोड़सोड़ा की गुरुमायं सनमती तथा बम्हनी की गुरुमांय आसमती एवं जानकी द्वारा गाए जाने वाले लछमी जलगार तथा डोंगरीगुड़ा (कोंडागांव) की गुरुमायं अम्बिका वैष्णव एवं मुलमुला की गुरुमांय मंदनी पटेल द्वारा गाए जाने वाले लछमी जगार की कथा में बहुत अन्तर है। सरगीपालारा एवं पलारी की उपर्युक्त गुरुमाओं द्वारा गाए जाने वाले लछमी जगार की कथा का उद्‌गम कोई भी पुराण या शास्त्र नहीं है। यह पूरी तरह मौलिक है। इसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। जबकि डोंगरीगुड़ा एवं मुलमुला की गुरुमाओ द्वारा गाए जाने वाले लछमी जगार में पौराणिकता का पुट है। ये गुरुमाएं कहती हैं कि इनके द्वारा गायी जाने वाली कथा का उद्‌गम

ओड़िया के लक्ष्मी पुराण से हुआ है। खोरखोसा, बस्तर, सिंगनपुर (जगदलपुर) आदि गांवों में गाए जाने वाले लछमी जगार की कथा भी ओड़िया के लक्ष्मी पुराण से अनुप्राणित है। यह बात अलग है कि यत्र-तत्र पौराणिकता से इतर आख्यान भी इसमें जुड़ गए हैं तथापि कथा का उत्स तो लक्ष्मी पुराण ही है। किन्तु रोचक तथ्य यह है कि संस्कृत में रचित पुराणों की सूची में लक्ष्मी पुराण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुत: निम्न 18 मुख्य एवं 2 अन्य, इस तरह कुल 20 पुराण बतलाए गए हैं: 1. विष्णु पुराण, 2. नारद पुराण, 3. भागवत् पुराण 4. गरुड़ पुराण, 5. पद्मपुराण, 6. वराह पुराण, 7. मत्स्य पुराण, 8. कूर्म पुराण, 9. लिंग पुराण, 10. शिव पुराण, 11. स्कन्द पुराण, 12. अग्नि पुराण, 13. वायु पुराण, 20. हरिवंश पुराण। ओड़िया में प्रचलित लक्ष्मी पुराण वस्तुत: ओड़िया साहित्यकार इन्द्रमणि साहू की रचना है। लगभग 150 पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन 1965 ई. में शारदा प्रेस, कटक (ओड़िसा) से हुआ था। दरअसल रचनाकार ने 46 अध्यायों में संयोजित अपनी इस रचना का आधार विष्णु पुराण को बनाया है, यह कहा जा सकता है।

सरगीपालपारा एवं पलारी की गुरुमाओं की गुरु थीं सरगीपालपारा (कोंडागांव) की आयती एवं दुआरी। आयती एवं दुआरी की गुरु थीं (कोडागांव) की एक महिला। संयोग से ये सभी गुरुमाएं अछूत वर्ग से ही संबंध रखती थीं।

इन गुरुमाओं द्वारा पायी जाने वाली कथा में इस अन्तर का एक कारण जो मेरी समझ में आ रहा है, वह यह हो सकता है कि चूंकि सरगीपालपारा, पलारी एवं घोड़सोड़ा की गुरुमाएं अछूत वर्ग की हैं अत: पुराणों तक इनकी पहुंच न होने के कारण इनकी कथा में कोई भी पौराणिक तथ्य नहीं हैं। इसी तरह डोंगरीगुड़ा की गुरुमायं अम्बिका वैष्णव, मुलमुला की गुरुमांय मंदनी पटेल, खोरखोसा की गुरुमांय रैमती, मनगती एवं सरसती तथा बस्तर के सुखदेव और जयदेव एवं सिंगनपुर की आसाबाई आदि गुरुमाएं सवर्ण वर्ग में संबंधित होने के कारण पुराणों तक इनकी पहुंच सहज थी, इसलिए इनकी कथा में पौराणिकता की स्पष्ट छाप दिखलायी पड़ती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि पुरातन काल में अछूत वर्ग के लिए न केवल शास्त्रों का अध्ययन अपितु उनका श्रवण भी वर्जित था। इससे यह तथ्य भी उभर कर सामने आता है कि कथा तो इनकी अपनी है किन्तु पात्र पौराणिक हैं। मेरी इस धारणा की पुष्टि बांझाराजा नामक एक हल्बी लोककथा से भी होती है। इस कथा के नायक-नायिका के नाम अलग-अलग वर्ग के कथा-वाचकों की कथाओं में आश्चर्जनक रूप से भिन्न-भिन्न हैं। बांझाराजा नामक इस लोककथा में नायिका मंजपुर (मृत्यु लोक) के एक सन्तानहीन राजा (बांझाराजा) के रूप पर मोहित होकर अपने पति का त्याग कर उस बांझाराजा के साथ भाग जाती है। कथा वही है किन्तु अछूत वर्ग द्वारा कही गयी इस कथा में नायिका का नाम लछमी (लक्ष्मी) और नायक का नाम नरायन (नारायन) है, जबकि सवर्णों द्वारा कही गयी इसी कथा में नायिका का नाम सुंदरी बाबी तथा नायक का नाम धनुरजय है। इस लोककथा से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह

कि, अछूत वर्ग के बीच लछमी और नरायन उस वर्ग के आचरण के अनुरूप आदर्श पात्र हैं। दूसरी बात यह कि निम्न वर्ग की सामाजिक सोच रूढ़िवादिता से कोसों दूर है। उनके विचारों में खुलापन है। वहां नारी स्वतन्त्र है। किन्तु साथ ही एक प्रश्न भी कि क्या यही स्वतन्त्रता है या कि स्वच्छंदता?

इस महाकाव्य से बस्तर के इतिहास पर भी दृष्टिपात किया जा सकता है। दरअसल इसे एक कहानी के रूप में न देख कर इतिहास के रूप में देखना चाहिए। और इस महाकाव्य के माध्यम से इतिहास यही बतलाता है कि इस अंचल में युद्ध की स्थिति नहीं के बराबर ही रही होगी। कहने का तात्पर्य यह कि यह अंचल शान्तिप्रिय रहा होगा। यह महाकाव्य यह तथ्य भी प्रकाशित करता है कि इस अंचल में बहुत पत्नी प्रथा रही है और यह भी कि सौतियाडाह से यह अंचल भी अछूता नहीं रहा। नरायन राजा की इक्कीस रानियों द्वारा नयी रानी माहालखी पर ढाए गए जुल्म-ओ-सितम यही तो बतलाते हैं।

कोंडागांव क्षेत्र में गाए जाने वाले इस लोक महाकाव्य का ध्वन्यांकन मैंने दिसम्बर 1996 में तथा पुनः जनवरी 1999 में किया। जनवरी 1998 एवं जनवरी 1999 में तथा इसका 'ट्रान्सक्रिप्शन' और इसके तुरन्त बाद अंग्रेजी अनुवाद। फिलहाल इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य जारी है। इस महाकाव्य को मैंने पठन-पाठन की दृष्टि से 5 खंडों तथा 39 अध्यायों में नियोजित किया है। इसकी पुष्ट संख्या 1000 के ऊपर होगी। खोरखोसा (जगदलपुर क्षेत्र) में गाए जाने वाले लछमीजगार का ध्वन्यांकन नवम्बर 2000 में मेरे द्वारा किया गया है जिसके लिप्यंतरण का कार्य अभी शेष है।

यहां प्रस्तुत है कोंडागांव क्षेत्र में गाए जाने वाले लछमीजगार के खंड-1, अध्याय-3 का अनुवाद उसके मूल सहित। इस जगार की पाट गुरुमायं हैं सुखदई कोराम (सरगीपालपारा) तथा चेली गुरुमायं हैं गागरी कोराम (सरगीपालपारा)एवं कमला कोराम (पलारी)।

लछमी-जगार
खंड-1 : मुर खंड खंड-1 : आरम्भिक खंड
अधया-3 : उपजास अध्याय-3 : उत्पत्ति

97ए	1.	निराकार बले निरंजन	निकारा निरंजन
	2.	निराकार निरंजन	निराकार निरंजन
	3.	निराकार रहे बाबा	निराकार था बाबा
	4.	दुदसागर रए	क्षीरसागर था
	5.	खीर समन्दुर रए बाबा	क्षीरसागर था बाबा
	6.	जलारंग रए	जल ही जल था
	7.	तिनपुर नांई रए बाबा	तीन लोक नहीं थे बाबा
	8.	तिनपुर नांई रए	तीन लोक नहीं थे
	9.	एकमेलान रए बाबा जे	एक समान था बाबा

	10. एकमेलान रए	एक समान था
	11. जलारंग ने कमल फुल	जलराशि में कमल का फूल
	12. जलारंग ने कमल फुल	जलराशि में कमल का फूल
	13. कमल फुल फुटे बाबा	खिला कमल का फूल बाबा
	14. कमल फुल फूटे	खिला कमल का फूल
	15. बिसनु पयदास होय बाबा	बिसनु का जन्म हुआ ओ बाबा
	16. बिसनु पयदास होय	बिसनु का जन्म हुआ
	17. जलारंगे आसे बाबा	जलराशि में है ओ बाबा
	18. दुदसागरे आसे	क्षीरसमुद्र में है
	19. भगवान के पुरा नय बाबा जे	भगवान को बाढ़ ले जाती बाबा
	20. भगवान के पुरा नय	भगवान को बाढ़ बहा ले जाती
	21. बासुत नांग दखे बाब	बासुत नाग देखता बाबा
	22. बासुत नांग दखे।	बासुत नाग देखता।
97बी	23. हे राम भगवान मयं का ला करवं[7]	'हे राम भगवान मैं क्या करुं
	24. बाप रे दइया का ला करवं	बाप रे दइया मैं क्या करुं
	25. करवं कवने अकिल बले	करुं कौन उपाय' कहता[8]
	26. करवं कवने गियान	'करुं कौन सा ज्ञान
	27. धन-धन मेरा तगदीर[9]	धन्य-धन्य[10] मेरी तकदीर
	28. धन-धन मेरा नसीब	धन्य-धन्य मेरा नसीब
	29. कोन अकल करें बले	करुं कौन सा ज्ञान
	30. कोन गियान करें	'करुं कौन उपाय कहता
	31. भगवान के पुरा बले नय ले	भगवान को बाढ़ ले जाती' कहता
	32. भगवान के पुरा नय	भगवान को बाढ़ ले जाती
	33. पुरा नेउक नी दयं बले	बाढ़ में न बहने दूं' कहता
	34. मयं पुरा नेऊक नी दयं।	'मैं बाढ़ में न बहने दू।'
97सी	35. छेके बाबू बासुत नांग	रोकता बाबू बासुत नांग
	36. छेके बाबू बासुत नांग	रोकता बाबू बासुत नांग
	37. पुरा नेउक नी दय बाबु	बाढ़ में बहने न देता बाबू
	38. पुरा नेउक नी दय	बाढ़ में बहने न देता
	39. जलारंगे आसोत बाबा	जलराशि में हैं बाबा
	40. दुदसागरे आसोत	क्षीरसागर में हैं
	41. बिसनु भगवान चो बोमली खाले	बिसनु भगवान की नाभि के नीचे
	42. बिसनु भगवान चो बोमली खाले	बिसनु भगवान की नाभि के नीचे
	43. कमल फुल फुटे बाबा	खिला कमल का फूल बाबा
	44. कमल फुल फुटे	खिला कमल का फूल
	45. बरमा पयदास होय बाबा	बरमा का जन्म होता बाबा
	46. बरमा पयदास होय	बरमा का जन्म होता
	47. दुनों भाई आसोत बाबा	दोनों भाई हैं ओ बाबा

7. इस पंक्ति में छत्तीसगढ़ी का प्रभाव झलकता है।

8. इस महाकाव्य में कुछेक स्थानों को छोड़ कर प्राय: 'कहता' या 'कहते' का तात्पर्य 'विचार करने 'से है

9. यहां 'धिक्-धिक्'

	48.	दुनों के पुरा नय	दोनों को बाढ़ बहा ले जाती
	49.	बासुत नांग छेके बाबा	बासुत नाग रोकता बाबा
	50.	पुरा नेउक नी दय।	बाढ़ में न बहने देता।
97डी	51.	बिसनु भगवान चो कोथा बाटे	बिसनु भगवान के पेडू से
	52.	बिसनु भगवान चो कोथा बाटे	बिसनु भगवान के पेडू से
	53.	महेसर पयदास होय बाबा	महेसर का जन्म होता बाबा
	54.	महेसर पयदास होय	महेसर का जन्म होता
	55.	तिनों भाई आसोत बाबा	तीनों भाई हैं ओ बाबा
	56.	तिनों भाई आसोत	तीनों भाई हैं
	57.	तिनों के पुरा बले नय बाबा	तीनों को बाढ़ बहा ले जाती बाबा
	58.	तिनों के पुरा नय	तीनों को बाढ़ बहा ले जाती
	59.	बासुत नांग छेके बाबा	बासुत नाग रोकता बाबा
	60.	पुरा नेउक नी दय।	बाढ़ में न बहने देता।
97ई	61.	मने बिचार भगवान करोत	मन में विचार भगवान करते
	62.	दीले धोका भगवान करोत	दिल में चिंता भगवान करते
	63.	हे राम भगवान बलोत बाबा	'हे राम भगवान' कहते बाबा
	64.	बाप रे दइया बलोत	'बाप रे दइया' कहते
	65.	कोन अकल करुं बलोत	'कौन उपाय करुं' कहते
	66.	कोन गियान करुं	'कौन सा ज्ञान करुं'
	67.	तिनपुर नीहाय बलोत	'तीन लोक नहीं है' कहते
	68.	तिनपुर नीहाय	'तीन लोक नहीं हैं
	69.	जलारंग आसे बलोत	जल ही जल है' कहते
	70.	खीर समंदुर आसे	'क्षीरसागर' है
	71.	धरती उपजाउन गेलु जाले	'धरती की रचना करें तो
	72.	पिरथी के रचुन गेलु जाले	पृथ्वी की सृष्टि करें तो
	73.	जुग-जुग नाव रएदे बलोत	युग-युगान्तर नाम रहेगा' कहते
	74.	जुग-जुग नाव होयदे	'युग-युगान्तर नाम होगा
	75.	कांई नामना निहाय बलोत	हमारा कोई नाम नहीं है' कहते
	76.	कांई किरती निहाय	हमारी कोई कीर्ति नहीं है
	77.	नामना डुबुन जाय बलोत	नाम डूब जाएगा' कहते
	78.	किरती बुडुन जाय।	कीर्ति डूब जाएगी।
97एफ	79.	सुन बाबु काकड़ा लोगो	'सुन ओ बालक केकड़े
	80.	सुन बाबु काकड़ा लोगो	सुन ओ बालक केकड़े
	81.	बाते सुनुन जा बाबू	बात सुनता जा बाबु
	82.	गोठ मानुन जा	तू कहना मानता जा
	83.	जलारंग ने जा बाबू	जलराशि में जा ओ बालक
	84.	दुदसागरे जा	क्षीरसागर में जा
	85.	केंचवां कीड़ा आन बाबु	केंचुआ को लेकर आ बाबू
	86.	केंचवां कीड़ा आन	तू केंचुआ को लेकर आ'
	87.	काकड़ा लोग सुने बाबा	केकड़ा है सुनता बाबा

	88.	जलारंग ने जाय	जलराशि में है जाता
	89.	केंचवां कीड़ा खोजे बाबु जे	केंचुआ है खोजता बाबू
	90.	केंचवां कीड़ा खोजे	केंचुआ है खोजता
	91.	डाड़ा ने चाबुन आने बाबु जे	दाढ़ में पकड़ कर लाता बाबू
	92.	डाड़ा ने चाबुन आने	दाढ़ में पकड़ कर लाता
	93.	बरमा-बिसनु के दय बाबु	बरमा-बिसनु को देता बाबू
	94.	महेसर भगवान के दय।	महेसर भगवान को देता।
97जी	95.	सुन परभु बरमा-बिसनु	'सुन प्रभु हे बरमा-बिसनु
	96.	सुन परभु महेसर भगवान	सुन प्रभु हे बरमा-बिसनु
	97.	काय बलाव आय बले	किसलिए बुलवाया' कहता
	98.	आले मोके सांगा	'मुझे आप बतलाएं
	99.	मके तो डर लागे बले जे	मुझको डर है लगता' कहता
	100.	मके भय लागे	'मुझको भय है लगता'
	101.	बरमा काय बले बाबु के	बरमा कहता है बाबू से
	102.	बिसनु काय बले	बिसनु कहता है
	103.	सुन बाबु केंचवां कीड़ा	'सुन बाबू ओ केंचुआ
	104.	सुन बाबु केंचवा कीड़ा	सुन बाबु ओ केंचुआ
	105.	तिनपुर निहाय बाबु	तीन लोक नहीं हैं बाबू
	106.	एकमेलान आसे	सब एक बराबर है
	107.	कांई नामना निहाय बाबु	कोई नाम नहीं है बाबू
	108.	मोचो कांई किरती निहाय	मेरी कोई कीर्ति नहीं है
	109.	नामना डुबुन जाय बाबु	नाम डूब रहा है बाबू
	110.	किरती बुडुन जाय	कीर्ति डूब रही है
	111.	एके किरती करलु जाले	एक काम करेंगे हम तो
	112.	एके किरती करलु जाले	एक काम करेंगे हम तो
	113.	जुग-जुग नाव रयदे बाबु	युग-युग नाम रहेगा बाबू
	114.	किरती बाढुन जायदे	कीर्ति बनी रहेगी
	115.	जलारंग आसे बाबु	अगाध जलराशि है बाबू
	116.	दुदसागर आसे	क्षीरसागर है
	117.	खीर समंदुर आसे बाबु	क्षीरसमुद्र है ओ बाबू
	118.	खीर समंदुर आसे	क्षीरसमुद्र है
	119.	हतड़ी ने हागुन दे बाबु	मेरी हथेली पर मल-त्याग कर दे बाबू
	120.	हतड़ी ने हागुन दे	मेरी हथेली पर मल-त्याग कर दे
	121.	धरती के उपजाउन जायं बाबु	धरती की रचना कर दूं बाबू
	122.	मयं पिरथी के बांधुन जायं।	मैं पृथ्वी की सृष्टि कर दूं।'
97एच	123.	सुने बाबु केंचवां कीड़ा	सुनता बाबू केंचुआ
	124.	सुने बाबु केंचवां कीड़ा	सुनता बाबू केंचुआ
	125.	हतड़ी ने हागुन दय बाबु	हथेली पर मल -त्याग करता बाबू
	126.	हतड़ी ने हागुन दय	हथेली पर मल-त्याग करता
	127.	धरती उपजाउन जाय बाबा	धरती की रचना करता बाबा
	128.	पिरथी के बांधुन जाय	पृथ्वी की रचना करता

	129. सुरवां काय बले बाबा	सुरवां है कहता बाबा
	130. हे राम भगवान बले	'हे राम भगवान' कहता
	131. कसन धरती तुय उपजाइस बले	'कैसे तुम धरती उपजाओगे' कहता
	132. कसन पिरथी बांधिस बले	'कैसे तुम पृथ्वी उपजाओगे' कहता
	133. धरती उपजाउक नीं दयं बले	'धरती उपजाने न दूंगा' कहता
	134. पिरथी के बांधुक नीं दयं	'मैं पृथ्वी सिरजने न दूंगा'
	135. आधा पानी के लिललो जाले	आधा पानी को लीलने पर
	136. आधा पानी के लिललो	आधा पानी को लीलने पर
	137. आधा समंदुर होय बाबा	समुद्र आधा हो जाता बाबा
	138. पानी के पुरकुन दिले	पानी को बाहर करने पर
	139. समुंदर झलकुन जाय बाबा	समुद्र में बाढ़ आ जाती बाबा
	140. जमा माटी के नय	सारी मिट्टी बह जाती
	141. पिरथी के बांधुक नीं दय बाबु	पृथ्वी सिरजने न देता बाबू
	142. धरती उपजाउक नी दय।	धरती उपजाने न देता।
97आई	143. हे राम भगवान मयं का ला करवं	'हे राम भगवान मैं क्या करुं
	144. बाप रे दइया का ला करवं	बाप रे दइया मैं क्या करुं
	135. कसन धरती उपजायं बले	कैसे धरती उपजाऊं' कहता
	146. कसन पिरथी के रचें	'मैं कैसे धरती रचूं
	147. सुरवां उपजाउक नीं दय बले	सुरवां रचने न देता' कहता
	148. मके सुरवां बांधुक नीं दय	'मुझे सुरवां सिरजने न देता
	149. आधा पानी के लिललो जाले	आधा पानी को लीलने पर
	150. आधा समंदुर होय	समुद्र आधा हो जाता
	151. पानी के पुरकुन दिलो जाले	पानी को बाहर करने पर
	152. समंदुर झलकुन जाय	समुद्र में बाढ़ आ जाती
	153. जमा माटी के नय बले	सारी माटी बह जाती' कहता
	154. जमा माटी के नय।	'सारी मिट्टी बह जाती।'
97जे	155. सुन बाबु काकड़ा कीड़ा	'सुन बाबू ओ केकड़े
	156. सुन बाबु काकड़ा कीड़ा	सुन बाबू ओ केकड़े
	157. कालिक माता लगे जा बाबु	कालिक माता के पास जा ओ बाबू
	158. कालिक माता के आन	तू कालिक माता को ला
	159. एक डंडिक एवो बाबु	थोड़ी देर को आए बाबू
	160. एक डंडिक एवो	वह जरा देर को आए'
	161. काकड़ा कीड़ा सुने	केकड़ा है सुनता
	162. कालिक माता लगे जाय	जाता कालिक माता के पास
	163. आया के काय बले बाबु	माता से है कहता बाबू
	164. सुन आया बले	'सुन माता' वह कहता
	165. सुन आया तुय कालिक माता	'सुन माता तू कालिक माता
	166. सुन आया कालिक माता	सुन माता ओ कालिक माता
	167. जलारंग में जावं आया	जलराशि में चलें माता
	168. दुदसागरे जावं	क्षीरसागर में जायं'
	169. अयंदे बाबु बले आया	'आऊंगी बाबू' कहती माता

	170. हरबर तीयार होय	जल्दी तैयार होती
	171. आपन साजु पिंदे आया	अपने साज पहनती माता
	172. आपन जाक धरे	अपने सामान लेती
	173. बांहा में बाजुबन्द बांधे आया	बांहों में बाजुबन्द बांधती माता
	174. हाते तलवार धरे	हाथ में तलवार लेती
	175. जाते-जाते बले जाय आया जे	जाते-जाते जाती माता
	176. कोसक-दापक जाय	कोस-दाब भर जाती
	177. जलारंग में जाय आया	जलराशि में जाती माता
	178. खीर समंदुरे जाय।	क्षीरसागर में जाती।
97के	179. सुना परभु तुमी बरमा-बिसनु	'सुनो प्रभु तुम बरमा-बिसनु
	180. सुना भगवान महेसर भगवान	सुनो हे महेसर भगवान
	181. काय बलाव आय बले	किसलिए बुलवाया' कहती
	182. आले मोके सांगा	'मुझे तनिक बतलाएं'
	183. आया के काय बलोत बाबा	माता से हैं कहते बाबा
	184. सुन आया बलोत	'सुन हे माता' कहते
	185. धरती उपजाउन जायं आया	'धरती की रचना करता माता
	186. मयं पिरथी के रचुन जायं	मैं पृथ्वी का सर्जन करता
	187. सुरवां उबजाउक नीं दय बले	सुरवां उपजाने न देता' कहता
	188. कसन धरती उबजायं	'कैसे धरती उपजाऊं
	189. आधा पानी के लिललो जाले	आधा पानी लीलने पर
	190. आधा पानी के लिललो जाले	आधा पानी लीलने पर
	191. आधा समंदुर होय बले	समुद्र आधा हो जाता' कहता
	192. पानी के पुरकुन दिले	'पानी को बाहर करने पर
	193. समंदुर झलकुन जाय	समुद्र में बाढ़ आ जाती
	194. मोचो जमा माटी के नय	मेरी सारी माटी बह जाती
	195. कसन धरती उबजायं बले	कैसे धरती उपजाऊं' कहता
	196. मयं कसन पिरथी के बाधें	'मैं कैसे पृथ्वी को सिरजुं
	197. सुरवां के भसम कर आ तुय	सुरवां को भस्म कर तू माता
	198. सुरवां के भसम कर	सुरवां का नाश कर दे
	199. कालिक माता सुने बाबा	कालिक माता सुनती बाबा
	200. करेंदे परभु बले	'करुंगी प्रभुवर' कहती
	201. जलारंग ने जाय आया	जलराशि में जाती माता
	202. दुदसागरे जाय।	क्षीरसागर में जाती।
97आई	203. पोंहरते-पोंहरते आया जाय	तैरती हुई जाती माता
	204. पोंहरते-पोंहरते आया जाय	तैरती हुई जाती माता
	205. सुरवां लगे बले जाय आया	सुरवां के पास जाती माता
	206. सुरवां के काय बले	सुरवां से है कहती
	207. किदलो बड़ चो आस बाबु तुय	'कितना बड़ा तू है रे बाबू
	208. धरती के उबजाउक नीं देस	धरती रचने न देता
	209. पिरथी के बांधुक नीं देस बाबु	पृथ्वी सिरजने न देता बाबू
	210. पिरथी के बांधुक नीं देस	पृथ्वी सिरजने न देता

	211. तुय-मयं जुज खेलूं बाबु	तू-मैं युद्ध करें ओ बाबू
	212. तुय-मयं जुज खेलूं	तू-मैं युद्ध करें'
	213. खेले आया रे कालिक माता	लड़ती माता कालिक माता
	214. खेले आया कालिक माता	लड़ती माता कालिक माता
	215. जुज खेलुन जाय आया	युद्ध करती जाती माता
	216. जुज खेलुन जाय	युद्ध करती जाती
	217. खेलते-खेलते खेले आया	लड़ते-लड़ते लड़ती माता
	218. खेलते-खेलते खेले	लड़ते-लड़ते लड़ती
	219. सुरवां के भसम करे आया	सुरवां को भस्म करती माता
	220. सुरवां के भसम करे	सुरवां का नाश करती
	221. सुरवां मरुन जाय बाबा	सुरवां मर जाता बाबा
	222. जलारंग में जाय	जलराशि में जाती
	223. सुरवां के भसम करले बले	'सुरवां को भस्म किया' कहती वह
	224. मंय सुरवां के भसम करले	'मैंने सुरवां का नाश किया
	225. धरती उबजाउन जा बले हुन	धरती की रचना कर' कहती वह
	226. पिरथी के बांधुन जा।	'पृथ्वी का सृजन कर।'
97एम	227. सुन बाबु काकड़ा लोगो	'सुन बाबू ओ केकड़े
	228. सुन बाबु काकड़ा लोगो	सुन बाबू ओ केकड़े
	229. जलारंग ने जा बाबु	जलराशि में जा बाबू
	230. खीरसागरे जा	क्षीरसागर में जा
	231. केंचवां कीड़ा आन बाबु	केंचुआ ले आ बाबू
	232. तुय केंचवां कीड़ा आन	केंचुआ ले आ'
	233. जलारंग ने जाय बाबु	जलराशि में जाता बाबू
	234. केंचवां कीड़ा आने	केचुआ ले आता
	235. बरमा-बिसनु के दय बाबु	बरमा-बिसनु को देता बाबू
	236. बाबु के काय बलोत	वे केंचुए से कहते
	237. हतड़ी ने हागुन दे बाबु	'हथेली में मल-त्याग कर दे बाबू
	238. मयं धरती उबजाउन जायं	मैं धरती-सृजन करुंगा'
	239. हतड़ी ने हागुन दय बाबु	हथेली पर मल-त्याग करता बाबु
	240. हतड़ी ने हागुन दय	हथेली की रचना करते राजा
	241. धरती उबजाउन जात राजा	धरती की रचना करते राजा
	242. पिरथी के रचुन जात	पृथ्वी का सर्जन करते
	243. उबजाय राजा रे बरमा-बिसनु	बरमा-बिसनु उपजाता राजा
	244. उबजाय राजा महेसर भगवान	महेसर भगवान उपजाता राजा
	245. तिल भर उबजाय राजा	तिल भर धरती उपजाता राजा
	246. तिल भर उबजाय	तिल भर धरती उपजाता
	247. पयसा इदलो उबजाय राजा	पैसा[11] बराबर उपजाता राजा
	248. रुपिया इदलो उबजाय	रुपया[12] बराबर उपजाता
	249. धरती उबजाउन जाय राजा	धरती की रचना करता राजा
	250. पिरथी के रचुन जाय	पृथ्वी की रचना करता
	251. हतड़ी इदलो उबजाय राजा	हथेली-सी उपजाता राजा
	252. हतड़ी इदलो उबजाय	हथेली-सी उपजाता

	253. धरती ने पायं मंडाय राजा।	धरती पर पांव धरता राजा।
97एन	254. हतड़ी इदलो ले बाखरा इदलो	हथेली भर से कमरा भर
	255. हतड़ी इदलो ले बाखरा इदलो	हथेली भर से कमरा भर
	256. कोठार असन उपजाय राजा	खलिहान बराबर उपजाता राजा
	257. कोठार असन उपजाय	खलिहान बराबर उपजाता
	258. पिरथी के रचुन जाय राजा	पृथ्वी की रचना करता राजा
	259. पिरथी के रचुन जाय	पृथ्वी का सिरजन करता
	260. अली मैदांग उबजाय राजा	बड़ा मैदान रचता राजा
	261. डेंगभाटा उबजाय	ऊंचा मैदान रचता
	262. काय मंजा सुन्दर दखे बाबा	बड़ा ही सुन्दर दिखता बाबा
	263. अती सुन्दर दखे	अतिशय सुन्दर दिखता
	264. उबजाय राजा रे नरायन परभु	उपजाता राजा प्रभु नरायन
	265. उबजाय राजा बिसनु भगवान	उपजाता राजा बिसनु भगवान
	266. धरती उबजाउन जाय राजा	धरती की रचना करता राजा
	267. पिरथी के रचुन जाय	पृथ्वी की रचना करता
	268. तिनपुर उबजाय राजा	तीन लोक रच ज़ाता राजा
	269. तिनपुर उबजाय	तीन लोक रच जाता
	270. तलपुर उबजाय राजा	तलपुर[13] है रच जाता राजा
	271. मंजपुर उबजाय	मंजपुर[14] हैं उपजाता
	272. उपरपुर उबजाय राजा	ऊपरपुर[15] उपजाता राजा
	273. मेंगपुर उबजाय	मेंगपुर[16] उपजाता
	274. धरती उबजाउन जाय राजा जे	धरती है उपजाता राजा
	275. पिरथी के बांधुन जाय	पृथ्वी की रचना करता
	276. कैलासपुर उबजाय	कैलासपुर उपजाता राजा
	277. बालीखंडपुर उबजाय।	बालीखंडपुर[17] उपजाता।
97ओ	278. उबजाय राजा रे गोबिन्दपुर	उपजाता राजा गोबिन्दपुर
	279. उबजाय राजा सागरपुर	उपजाता राजा सागरपुर
	280. हरदीनंगर उबजाय राजा	हरदीनगर उपजाता राजा
	281. टुरंडीनंगर उबजाय	टुरंडीनगर उपजाता
	282. इन्दरपुर उबजाय राजा जे	इन्दरपुर[18] उपजाता राजा
	283. बडुन्दपुर उबजाय	बडुन्दपुर[19] उपजाता
	284. कोबेरपुर उबजाय राजा	कोबेरपुर[20] उपजाता राजा
	285. जनेकपुर उबजाय	जनेकपुर[21] उपजाता
	286. धरती उबजाउन जाय राजा	धरती की रचना करता राजा

---

11. छोटा सिक्का
12. बड़ा सिक्का
13. नीचे का लोक = पाताल लोक
14. मध्य लोक = मर्त्य लोक
15. ऊर्ध्व लोक = स्वर्ग लोक
16. मेघ लोक
17. बालु तटीय लोक = क्षीरसागर
18. इन्द्रपुरी
19. वरुणपुरी
20. कुबेरपुरी
21. जनकपुरी

	287. पिरथी के रचुन जाय	पृथ्वी का सिरजन करता
	288. मने बिचार राजा करे	मन में विचार करता राजा
	289. दीले धोका राजा करे	दिल में चिन्ता करता
	290. मयं धरती उबजाउन जायं बले	'मैं धरती की रचना करता' कहता
	291. पिरथी के रचुन जायं	'पृथ्वी का सर्जन करता
	292. काके सोपुर दयंदे बले	किसे सौंप दूंगा' कहता
	293. मयं काके सोपुन दयंदे	'मैं किसे सौंप दूंगा'
	294. बाबु के काय बले राजा।	बाबू से है कहता राजा।
97पी	295. सुन बाबु बासुत नांगों	'सुन बाबू ओ बासुत नाग
	296. सुन बाबु बासुत नांगों	सुन बाबू ओ बासुत नाग
	297. मयं धरती उबजाउन जायं बाबु	मैं धरती की रचना करता बाबू
	298. पिरथी के रचुन जायं	पृथ्वी की रचना करता
	299. धरती के कोन धरदे बाबु	कौन करे धारण धरती को
	300. कोन बोहुन रदे	कौन वहन करेगा
	301. तुय धरती के बोहुन रा बाबु	तू धरती को धारण कर बाबू
	302. धरती के बाहून रा	तू धरती को धारण कर'
	303. बासुत नांग के सोपे बाबा	बासुत नाग को सौंपता बाबा
	304. बासुत नांग के सोपे	बासुत नाग को सौंपता
	305. सुने बाबु बासुत नांगो	सुनता बाबू बासुत नाग
	306. सुने बाबु बासुत नांगो	सुनता बाबू बासुत नाग
	307. धरती के बोहुन आसे बाबु	धरती को धारण करता बाबू
	308. पिरथी के बोहुन आसे	पृथ्वी को धारण करता
	309. आपन-आपन जाओत बाबा	अपने-अपने जाते बाबा
	310. आपन-आपन जाओत	अपने-अपने जाते
	311. उपरपुरे बले जाय बाबा	ऊपरपुर को जाता बाबा
	312. बरमा भगवान जाय।	बरमा भगवान है जाता।
97क्यू	313. जाय बाबा रे बिसनु भगवान	जाता बाबा रे बिसनु भगवान
	314. जाय बाबा बिसनु भगवान	जाता बाबा रे बिसनु भगवान
	315. बालीखंडपुरे बले जाय बाबा	बालीखंडपुर को जाता बाबा
	316. बालीखंडपुरे जाय	बालीखंडपुर को जाता
	317. कैलासपुरे जाय राजा	कैलासपुर को जाता राजा
	318. कैलासपुरे जाय	कैलासपुर को जाता
	319. महेसर भगवान जाय बाबा	महेसर भगवान जाता बाबा
	320. महेसर भगवान जाय	महेसर भगवान जाता
	321. आपन-आपन आसोत बाबा	अपने-अपने पुर में हैं बाबा
	322. आपन-आपन आसोत।	अपने-अपने पुर में हैं।

राजस्थान संगीत नाटक अकादमी द्वारा
श्री श्याम माली
को वर्ष २०००-२००१ के 'अकादमी एवार्ड' के लिए
सम्मानित किये जाने पर
भारतीय लोक कला मण्डल परिवार की ओर से
बधाई व शुभकामनाएँ

राजस्थान की पारम्परिक कठपुतली कला के विशेषज्ञ श्री श्याम माली का जन्म उदयपुर में 30 दिसम्बर 1957 को हुआ। वर्तमान में आप सहायक निदेशक के पद पर भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर में सेवारत है। राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर द्वारा इतिहास में स्नात्कोत्तर उपाधि प्राप्त श्री श्याम जी कठपुतली कला क्षेत्र में सूत्र संचालित पुतली, दस्ताना पुतली, छडपुतली व छाया पुतली में विशेषता प्राप्त है। आपको कठपुतली नाट्य लेखन, निर्देशन व राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर प्रदर्शन का विशद अनुभव है। आपने राजस्थान के विभिन्न जिलों में राजस्थान संगीत नाटक अकादमी व अन्य संस्थाओं द्वारा आयोज्य कठपुतली कला कार्यशालाओं के माध्यम से राज्य भर के अनुमानित 3200 छात्र छात्राओं व संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली, नेहरू युवा केन्द्र, भारत सरकार, एन.सी.ई.आर.टी. नई दिल्ली, सी.सी.आर.टी. नई दिल्ली; एस.आई.ई.आर.टी. उदयपुर, केअर राजस्थान, निदेशालय चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाएं (आई.ई.सी.), राजस्थान सरकार, लोक जुम्बिश परिषद, जयपुर, विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी विभाग, जयपुर आदि के लिए कठपुतली की विभिन्न कला में अब तक 28 नाटकों का लेखन व निर्देशन किया है साथ ही ग्रामीण परिवेश में कार्यरत विभिन्न संस्थाओं के वातावरण निर्माण हेतु कठपुतली कला दलों को तैयार कर ग्रामीण क्षेत्रों में अभियोजनों का संचालन किया।

आपने कठपुतली विद्या के अध्ययन एवं प्रदर्शन हेतु जापान, अमेरिका व मलेशिया की यात्रा की तथा राजस्थानी प्रेम गाथाओं पर आधारित टेलीफिल्म "रेत खिले सपने" का निर्माण किया।

आपको पर्यावरण विभाग राजस्थान सरकार एवं भारतीय लोक कला मण्डल द्वारा विशिष्ट सेवा सम्मान तथा श्रेष्ठ कठपुतली प्रदर्शन हेतु जापान सरकार द्वारा स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया है।

बेजान पुतलियों में जान डालकर कला की ऊँचाईयां छूने वाले ऐसे सृजनधर्मी को राजस्थान संगीत नाटक अकादमी सम्मानित कर गर्व की अनुभूति करती है।